Bhumandlikaran ke daur mein hindi upanyason mein pravrajan aur visthapan ki samasya

A Thesis submitted in Partial Fulfilment of the Requirement
For the Degree of Doctor of Philosophy in Hindi

2021

Researcher

BHAWNA

16HHPH03

Supervisor

PROF. R. S. SARRAJU

Department of Hindi, School of Humanities

University of Hyderabad

Hyderabad - 500046

Telangana,

India

भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी उपन्यासों में प्रव्रजन और विस्थापन की समस्या

हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबंध

2021

शोधार्थी

भावना

16HHPH03

विभागाध्यक्ष

प्रो. गजेंद्र कुमार पाठक

हिंदी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद 500046

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
Head, Department of Hindi
हैदराबाद विश्वविद्यालय
University of Hyderabad
हैदराबाद / Hyderabad-500 046.

शोध निर्देशक

प्रो. आर. एस. सर्राजु

हिंदी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद 500046

DECLARATION

I BHAWNA (Registration no. **16HHPH03**) hereby declare that the thesis entitled **'BHUMANDLIKARAN KE DAUR MEIN HINDI UPANYASON MEIN PRAVRAJAN AUR VISTHAPAN KI SAMASYA'** submitted by me under the guidance and supervision of Professor **R. S. SARRAJU** is a bonafide plagiarism free research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in shodhganga/Inflibnet.

Signature of Supervisor

Prof. R.S. SARRAJU
Department of Hindi
University of Hyderabad
Hyderabad-500 046.

(Prof. R.S. SARRAJU)

DATE 16/8/2021

Signature of Student

BHAWNA

Reg. No. 16HHPH03

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **'BHUMANDLIKARAN KE DAUR MEIN HINDI UPANYASON MEIN PRAVRAJAN AUR VISTHAPAN KI SAMASYA'** submitted by BHAWNA bearing Reg. No. **16HHPH03** in partial fulfilment of the requirements for the award of the degree of **DOCTOR OF PHILOSOPHY** in **HINDI** is a bonafied work carried out by her under my supervision and guidance.

As far as I know, This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or institution for award of any degree or diploma.

Further, the student has the following publication(s) in the relevant area of her research before submission of the thesis for adjudication and has produced evidence for the same in the form of acceptance letter or in the reprint:

A. Published research paper in the following publications :

1) 'CORONA KE BHAYAWAH DAUR MEIN PALAYAN KI VIBHISHIKA', *SAMSAAMAYIK SRIJAN*, ISSN NO. 2320-5733, YEAR 11, VOL-21, JAN-MAR 2021, PAGE NO- 61-63
2) 'BHUMANDLIKRUT SAMAJ MEIN VIKAS BANAM VISTHAPAN', *RAINBOW*, PEER REVIEWED, ISSN NO. 2394-6903, VOL-7, 2021, PAGE NO. 254-259

B. Research Paper presented in the following conferences :

1. 'BHUMANDLIKARAN KE DAUR MEIN HINDI UPANYASON MEIN VISTHAPAN KI SAMASY' BADRUKA VAANIJAY EVAM KALA MAHAVIDYALAYA, HYDERABAD , 14-15 DECEMBER, 2018
2. 'BHUMANDLIKRUT SAMAJ AUR AADIWASI VISTHAPAN', SHYAMA PRASAD MUKHARJI MAHILA MAHAVIDYALAYA EVAM VISHWAVIDYALAYA ANUDAAN AAYOG BHARAT SARKAAR, 6-7 FEBURARY, 2020

Further the student has passed the following courses towards fulfilment of coursework requirement for Ph.D. :-

Course Code	Name	Credit	Result
1. 801	Critical Approaches to Research	4	PASS
2. 802	Research Paper	4	PASS
3. 826	The Ideological Background of Hindi Literature	4	PASS
4. 827	Practical Review of the Texts	4	PASS

The student has also passed M.PHIL degree of this university. She studied the following course in this programme.

Course Code	Grade	Credit	Result
1. 701 Rsearch Methodology	A	4	PASS
2. 723 Philosophy of Histroy of Literature	A	4	PASS

3. 725 Social Context of Hindi and Language Registers	A	4	PASS
4. 726 Sahity Media Aur Sanskrauti	A	4	PASS

Supervisor
Prof. R.S. SARRAJU
Department of Hindi
University of Hyderabad
Hyderabad-500 046.

Head of Department
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
Head, Department of Hindi
हैदराबाद विश्वविद्यालय
University of Hyderabad
हैदराबाद / Hyderabad-500 046.

Dean of the School

भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी उपन्यासों में प्रव्रजन और विस्थापन की समस्या

अनुक्रमणिका……………………………………………1-3

प्रस्तावना…………………………………………………..4-8

प्रथम अध्याय:- विषय परिचय……………………………9-45

1.1 विकास की अवधारणा

1.2 प्रव्रजन और विस्थापन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1.3 हिंदी उपन्यासों की विकास यात्रा

1.4 हिंदी उपन्यासों का चुनाव

1.5 संबंधित विषय पर हुए शोध कार्य

द्वितीय अध्याय:- हिंदी के चयनित उपन्यासों की कथाभूमि…..46-95

2.1 निर्वासन

2.2 ग्लोबल गांव के देवता

2.3 एक ब्रेक के बाद

2.4 दौड़

2.5 जानकीदास तेजपाल मैनशन

2.6 शिगाफ़

2.7 गायब होता देश

2.8 डूब

2.9 पार

2.10 देश निकाला

तृतीय अध्याय:- प्रव्रजन की अवधारणा और समकालीन हिंदी उपन्यासों में प्रव्रजन की समस्या……………………………………96-140

3.1 प्रव्रजन के प्रमुख कारक

3.2 प्रतिभा प्रव्रजन

3.3 स्त्री प्रव्रजन

3.4 प्रव्रजन संबंधित चुनौतियां

3.5 प्रव्रजन के सकारात्मक पहलू

3.6 प्रव्रजन संबंधित रिपोर्ट और आंकड़े

3.7 हिंदी उपन्यास और प्रव्रजन

चतुर्थ अध्याय:- विस्थापन की अवधारणा और समकालीन हिंदी उपन्यासों में विस्थापन की समस्या………………………………141-171

4.1 वैश्विक स्तर पर विस्थापन

4.2 भारत में विस्थापन की समस्या

4.3 विस्थापन से संबंधित रिपोर्ट और आंकड़े

4.4 हिंदी उपन्यास और विस्थापन

पंचम अध्याय:- प्रव्रजन और विस्थापन मूलक हिन्दी उपन्यासों की अभिव्यंजना प्रणाली का अध्ययन

अध्ययन…………………………………………………..172-197

उपसंहार…………………………………………………..198-207

संदर्भ ग्रंथ/आलेख सूची…………………………………208-213

शोध आलेख………………………………………………...214-227

शोध संगोष्ठी प्रमाण पत्र…………………………………228-229

भूमिका

हिंदी कथा साहित्य का परिवेश बदलाव के अनेक परिदृश्यों को अपने अंदर समेटे हुए है। समाज में जैसे-जैसे परिवर्तन हुआ, सामाजिक परिस्थितियां बदली। सामंतशाही के अंत के साथ एक नयी व्यवस्था से हमारा परिचय हुआ। इससे पूर्व उपनिषद्, पुराण, महाकाव्य और मिथक आदि मनुष्य की स्थिति और नियति को दिखाने का प्रयत्न करते थे। आधुनिक काल में यह कार्य साहित्य की अन्य विधाओं ने किया जिसमें 'उपन्यास' विधा महत्वपूर्ण है। उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य भी कहा जाता है। उपन्यास मूलतः पूंजीवादी व्यवस्था की देन है, जो समय के साथ अपनी नवीन भूमिका निर्मित करता रहा है। इस सभ्यता के विभिन्न जीवन-मूल्यों और सत्यों को कथा के माध्यम से उपन्यासों में चित्रित किया गया है। हिंदी में सर्वप्रथम *प्रेमचंद* ने आधुनिक युग के संक्रमण को भली-भांति पहचाना। परिणामस्वरूप सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक यथार्थ उपन्यास का मुख्य विषय बनें। समाज में व्याप्त विषमताओं और मानव मन की उधेड़-बुन को भी अन्य उपन्यासकारों के द्वारा चित्रित किया गया। आज़ादी के बाद देश के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि भारत का सम्पूर्ण विकास कैसे किया जाए? आज़ादी के साथ विभाजन की क्रूर विभीषिका को भी भारत को झेलना पड़ा। इस घटना से लाखों की संख्या में लोगों का प्रव्रजन और विस्थापन हुआ। विभाजन की इस त्रासदी ने मानवीय-मूल्यों को झकझोर कर रख दिया। लोग अपनी मातृभूमि से दूर जाने के लिए मजबूर हो गए। रचनाकारों के द्वारा विभिन्न साहित्यिक विधाओं में विघटित मानव-मूल्य तथा देश की दशा और दिशा का खुलकर चित्रण किया गया। देश को आर्थिक तंगी से उभारने और विकास के मार्ग पर प्रशस्त करने के लिए तमाम नवीन

योजनाओं का शुभारम्भ भी किया गया। देश ने धीरे-धीरे औद्योगिक विकास की ओर कदम बढ़ाना शुरू किया। सरकार के द्वारा औद्योगिक नीति प्रस्ताव की घोषणा की गयी। सरकारी क्षेत्र की भूमिका को बढ़ाने के साथ-साथ निजी क्षेत्र में भी निवेश करने की अपील की गयी। इस तरह भारत ने नियोजित विकास की नीति अपनाई जिसके अंतर्गत नीति निर्मातों के द्वारा सिंचाई प्रबंध, बिजली उत्पादन और बांध परियोजनाओं को प्राथमिकता दी गयी। बांध और बिजली उत्पादन संबंधी योजनाएं विस्थापन की समस्या का भी कारण बनीं। शहरीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण गाँव से शहरों की ओर लोगों का तीव्र गति से प्रव्रजन हुआ।

नब्बे के दशक में भारत आर्थिक विपन्नता के दौर से गुजर रहा था। वहीं दूसरी ओर अमेरिका, चीन आदि विकसित देश महाशक्ति के रूप में उभर रहे थे, जो भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के तहत समस्त विश्व को एक ग्राम के रूप में स्थापित करने के लिए प्रयासरत थे। भारत ने भी स्वयं को इस व्यवस्था में एकीकृत कर दिया। उद्योगों में उदारीकरण और निजीकरण के तहत अंतर्राजीय और अंतर्राष्ट्रीय नियमों में सरकार के द्वारा ढील दी गयी। हालांकि भूमंडलीकरण मानव इतिहास में कोई नवीन परम्परा नहीं है। इसका एक मजबूत और ऐतिहासिक आधार पहले से ही मौजूद है। लेकिन समकालीन व्यवस्था कुछ बातों में भिन्न है। मसलन वर्तमान समय में प्रवाह की गति और प्रसार के धरातल ने भूमंडलीकरण को एक नवीन रूप प्रदान किया गया है। भारत में भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया के अनेक सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव देखे गये हैं। वर्तमान समय में कोरोना महामारी ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया पर भी प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। जिस एकीकृत वैश्विक ग्राम की परिपाटी पर योजनाएं बनाई जा रही थीं, महामारी ने उस व्यवस्था को हिला कर रख दिया है।

प्रव्रजन और विस्थापन की समस्याओं में जिन कारणों की चर्चा की जाती थी, उनमें अब महामारी भी मुख्य रूप से सम्मिलित हो गयी है। वस्तुतः अभी तक इतिहास में भारत और पाकिस्तान के विभाजन

की त्रासदी के बाद हुए प्रव्रजन एवं विस्थापन को ही सबसे बड़े स्तर पर देखा जाता रहा है। परंतु भूमंडलीकरण के इस दौर में महामारी ने तमाम धारणाओं को ध्वस्त किया और इस व्यवस्था की बुनियाद को छिन्न-भिन्न कर दिया है। जहां लोग गाँव से शहरों की ओर पलायन करते थे वहां महामारी में अब शहरों से गाँव वापसी को बड़े पैमाने पर देखा गया। महामारी के इस दौर में पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के मजदूर भयावह स्थिति का सामना कर रहे हैं। आज श्रमिक वर्ग अपनी जड़ों की ओर प्रव्रजन कर रहा है उससे आने वाले समय में देश को कई चुनौती का सामना करना है। संकट के इस दौर में प्रव्रजन और विस्थापन का जो भयावह रूप देखने को मिला, उसने अनेक प्रश्न हमारे सामने खड़े कर दिए हैं। प्रस्तुत शोध प्रबंध में इन प्रश्नों पर भी गंभीरता से विचार किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में *भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी उपन्यासों में प्रव्रजन और विस्थापन की समस्या* विषय पर विचार किया गया है। प्रव्रजन और विस्थापन कोई नवीन क्रिया नहीं है। इसका भी अपना एक इतिहास रहा है। परंतु वर्तमान समय में यह विकराल सामाजिक समस्या के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। हिंदी कथा साहित्य में प्रव्रजन और विस्थापन की समस्या से जूझते आमजन, आदिवासी, किसान, दलित, मजदूर आदि की पीड़ा को स्थान दिया गया है साथ ही समस्या पर गहन विचार भी किया गया है। अध्ययन की दृष्टि से शोध-प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय- *विषय परिचय,* के अंतर्गत इस अध्याय को पांच उप-अध्यायों में विभक्त किया है। विकास की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए विकास की ऐतिहासिक और वर्तमान पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने विकास को किस तरह प्रभावित किया। इस बिंदु को भी रेखांकित किया गया है। उपर्युक्त अध्याय में ही प्रव्रजन और विस्थापन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, हिंदी उपन्यासों की विकास यात्रा, हिंदी उपन्यासों का चुनाव और संबंधित विषय पर हुए शोध कार्य आदि की चर्चा की गई है।

द्वितीय अध्याय- हिंदी के चयनित उपन्यासों की कथाभूमि के अंतर्गत दस उपन्यासों का चुनाव किया गया है। डूब (1991)- वीरेन्द्र जैन, पार (1994)- वीरेन्द्र जैन, दौड़ (2000)- ममता कालिया, ग्लोबल गाँव के देवता (2009)-रणेंद्र, देश निकाला (2009)- धीरेन्द्र अस्थाना, एक ब्रेक के बाद (2010)- अलका सरावगी, शिगाफ़ (2012)- मनीषा कुलश्रेष्ठ, निर्वासन (2014)- अखिलेश, गायब होता देश (2014)- रणेंद्र, जानकीदास तेजपाल मैनशन (2015)- अलका सरावगी।

तृतीय अध्याय- प्रव्रजन की अवधारण और समकालीन हिंदी उपन्यासों में प्रव्रजन की समस्या के अंतर्गत प्रव्रजन की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। अध्याय को सात उप-अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रव्रजन के प्रमुख कारको का वर्णन करते हुए उन कारणों की पड़ताल की गयी है, जो प्रव्रजन के मूल में हैं। प्रव्रजन संबंधित चुनौतियां, प्रव्रजन के सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं पर भी विचार किया गया है। विभिन्न कारणों को पुष्ट करने के लिए प्रव्रजन संबंधी रिपोर्ट और आंकड़ों का सहारा भी लिया गया है, साथ ही चयनित हिंदी उपन्यासों के आधार पर प्रव्रजन संबंधी समस्याओं का अध्ययन और विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय- विस्थापन की अवधारणा और हिंदी उपन्यासों में विस्थापन की समस्या के अंतर्गत सर्वप्रथम विस्थापन की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। अध्ययन की दृष्टि से अध्याय को पाँच उप-अध्यायों में विभक्त किया गया है। वैश्विक स्तर पर विस्थापन की समस्या और कारणों को चिह्नित किया गया है। भूमंडलीकरण के दौर में विस्थापन की समस्या ने किस प्रकार विकराल रूप लिया है उन कारणों का भी अध्ययन किया गया है। तथा विभिन्न विद्वानों के मतों के द्वारा समस्या को समझने का प्रयास किया है। विस्थापन संबंधी रिपोर्ट और आंकड़ों को भी शोध में सम्मिलित किया गया है। हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त विस्थापन की समस्या ने शहरी और ग्रामीण परिवेश को किस तरह प्रभावित किया है उन कारणों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया है।

पंचम अध्याय- प्रव्रजन और विस्थापन मूलक हिंदी उपन्यासों की अभिव्यंजना प्रणाली के अध्ययन के अंतर्गत उपन्यास की भाषिक संरचना में जो परिवर्तन आए, उन्हें विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। उपन्यास के कारकों की भी चर्चा की गयी है। उपन्यास लेखन के अंतर्गत शिल्प के स्वरुप और महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है।

उपसंहार, अंत में शोध के अंतर्गत जो निष्कर्ष निकलकर सामने आए उन्हें सार रूप में रखा गया है।

इस शोध प्रबंध के लिए मैं सर्वप्रथम अपने शोध-निर्देशक आदरणीय गुरुवर प्रो. आर. एस सर्राजु जी के प्रति आभार और धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। जिन्होंने शोध विषय के चुनाव से लेकर विषय की गहराई को समझने में मेरी मदद की और अनुशासन में काम करने की प्रेरणा दी।

मैं आदरणीय गुरुवर प्रो. गजेन्द्र कुमार पाठक जी का भी धन्यवाद और आभार प्रकट करती हूँ। आपने तमाम व्यस्तताओं से समय निकालकर शोध-विषय से संबंधित समस्याओं को हल करने में मेरा सहयोग किया।

मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, प्रो. श्यामराव जी, डॉ. जे. आत्माराम जी और डॉ. भीम सिंह जी की, जिन्होंने समय-समय पर विषय से संबंधित महत्वपूर्ण परामर्श दिए।

मैं अपनी माता और भाई के प्रति भी विशेष रूप से आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने विषम परिस्थितियों में मेरा हौसला बढ़ाया और सहयोग प्रदान किया। मैं अपने मित्रो के प्रति भी आभार और प्रेम व्यक्त करती हूँ, जिनका भरपूर सहयोग मिला।

प्रथम अध्याय

विषय परिचय

सामंतशाही के जिस अंत से पूंजीवाद और औद्योगीकरण का जन्म हुआ वह भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण उदारीकरण की नयी-नयी साम्राज्यवादी शक्तियों के रूप में हमारे सामने आया।भारत में भूमंडलीकरण 1991 में आर्थिक पैकेज के रूप में लागू हुआ था जो मूलतः देश पर आये आर्थिक संकट को दूर करने के लिए अपनाया गया था। आर्थिक उदारीकरण, विनिवेशीकरण और निजीकरण के साथ वैश्वीकरण की बहुआयामी प्रक्रिया का मार्ग धीरे-धीरे प्रशस्त होने लगा। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत देश परस्पर निर्भर हो जाते हैं और लोगों के बीच की दूरियां घट जाती हैं। एक देश अपने विकास के लिए दूसरे देशों पर निर्भर होता है। भूमंडलीकरण में केवल वस्तुओं और पूँजी का ही संचलन नहीं होता अपितु लोगों का भी संचलन होता है। एंथोनी गिडेंस के अनुसार, "विभिन्न लोगों और दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के बीच बढ़ती हुई अन्योन्याश्रिता या पारस्परिकता ही वैश्वीकरण है।"[1] इस प्रक्रिया से भारत की अर्थव्यवस्था में काफ़ी सुधार आया। 1991 ईस्वी के बाद व्यक्तिगत आय पर लगाए गए करों में कमी की गयी। प्रशुल्क दरों में भी कटौती की गयी। कृषि और औद्योगिक उपभोग्य वस्तुओं के आयात भी मात्रात्मक प्रतिबंधों से मुक्त कर दिए गए। लाभ में वृद्धि करने के लिए प्रबंधन और

[1] डॉ. माधव सोनटक्के एवं डॉ. अम्बादास देशमुख (संपादक), *वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में भाषा और साहित्य*, पृ. 116.

संचालन कार्यों में अधिक स्वायत्तता दी गई। धीरे-धीरे प्रतिस्पर्धा के कारण ग्राहक महत्वपूर्ण बन गया और ग्राहक की सुविधा का ध्यान रखा जाने लगा। सोवियत संघ के विघटन के बाद जब दुनिया एकध्रुवीय हो गयी तब अमेरिका के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने पूरी दुनिया के बाज़ार पर कब्ज़ा जमाना शुरू कर दिया, जिसे वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण जैसा आकर्षक नाम दिया गया।

भूमंडलीकरण के नाम पर साम्राज्यवादी व्यवस्था और इसकी उपभोक्तावादी संस्कृति को संसार के उन हिस्सों तक पहुंचाया गया जहां अभी भी गैरपूंजीवादी व्यवस्थाएं मौजूद थीं। इसने न सिर्फ सम्पूर्ण विश्व को एक बाज़ार के रूप में स्थापित किया बल्कि इसके कारण हमारी उदात्त सांस्कृतिक व्यवस्था, भाषाई अस्मिता, मानवीय मूल्य भी समाप्त होने के कगार पर हैं। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का एकमात्र लक्ष्य आर्थिक संस्कृति का विकास करना है और यह विकास उस थोथी मानसिकता पर आधारित है, जहां अमीर और अमीर तथा गरीब और गरीब बनता जा रहा है। भूमंडलीकरण कई देशों में सरकार के स्थान पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को मुख्य भूमिका निभाने की छूट देता है, उनके पास संसाधन एवं प्रौद्योगिकी है, उनकी गतिविधियों को सरकार का सहयोग उपलब्ध है। अनेक बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपनी फैक्ट्रियों को एक देश से दूसरे देश में ले जाती हैं। सूचना प्रौद्योगिकी उन्हें उत्पादन और वितरण के लिए विश्व में कहीं भी जाने योग्य बनाती है। हालांकि वैश्वीकरण एक जटिल प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य विश्व को परस्पर निर्भर और अधिक एकीकृत करना है। इसके अंतर्गत आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक सीमाओं के अतिक्रमण की गतिविधियों का सृजन होता है।

भूमंडलीकरण मुख्य रूप से दो क्षेत्रों पर बल देता है; 'उदारीकरण' और 'निजीकरण'। उदारीकरण का अर्थ है, औद्योगिक और सेवा क्षेत्र की विभिन्न गतिविधियों से संबंधित नियमों में ढील देना और विदेशी कम्पनियों को घरेलू क्षेत्र में व्यापारिक और उत्पादन इकाईयां लगाने हेतु

प्रोत्साहित करना। निजीकरण के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों की सम्पत्ति को निजी क्षेत्र के हाथों बेचना भी सम्मिलित है। चूंकि भूमंडलीकरण सरकारों को संसाधनों का निजीकरण करने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है जिसमें लाभ कमाने की दृष्टि से संसाधनों का दोहन होता है। बाजारवाद और उपभोक्तावाद भूमंडलीकरण के सहचर हैं। आज विश्व बाजार की सत्ता को ताकतों की सत्ता नियोजित कर रही है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिरोध और परिवर्तन के मिले-जुले प्रयोग चल रहे हैं। रामविलास शर्मा का मत है,

> भूमंडलीकरण के दौर में जनता जो कुछ भी कमाएगी वह विदेशी पूंजीपतियों को सौंपती जाएगी। निर्धनता बढ़ेगी, पुराने सामन्ती अवशेष जैसे ब्राह्मण और शूद्र का भेद तथा हिंदू और मुसलमान का भेद बढ़ेगा। लोग देशी-विदेशी पूंजीवाद से लड़ने के बदले आपस में लड़ेंगें। देश का विभाजन एक बार हो चुका है जो बचा है वह भी विभाजित होगा।[2]

वर्तमान समय में भूमंडलीकरण अत्यंत चर्चित और विवादास्पद धारणा है। अमेरिकी विद्वानों का मानना है कि भूमंडलीकरण का सबसे पहला प्रयोग ‘थ्योडोर लेविट’ ने किया है। डॉ. रामविलास शर्मा भूमंडलीकरण की अवधारणा को नया नहीं मानते। इनका मानना है कि ‘ग्लोबलाइजेशन’ शब्द ब्रिटिश कालीन विचारक ‘डीज्बिल’ का है। वे भूमंडलीकरण को ब्रिटिश उपनिवेशवाद का ही विस्तार मानते हुए कहते हैं कि फ़र्क सिर्फ इतना है कि उस समय महाशक्ति के रूप में ब्रिटेन था और आज अमेरिका। पूंजीवादी व्यवस्था का भूमंडलीकरण निश्चित रूप से कोई नवीन प्रक्रिया नहीं है लेकिन हाल की अवधि में इसने एक गुणात्मक कदम बढ़ाया है।

भूमंडलीकरण का दायरा व्यापार तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इससे उत्पादन व्यवस्था, प्रौद्योगिकी, वित्तीय बाजार और सामाजिक जीवन के अन्य पहलू भी प्रभावित होते हैं। विगत दो दशकों में आन्दोलन के जो नए रूप दिखाई दे रहे हैं उनका काफ़ी कुछ संबंध राज्य के बदलते चरित्र और उदारीकरण की नीतियों से है। मसलन, नर्मदा बचाओ, टिहरी बांध, भारत जन

[2] मनोज कुमार शुक्ल एवं पुष्पा तिवारी (संपा.), *भूमंडलीकरण अस्मिता और रामविलास शर्मा*, पृ. 55.

आंदोलन, पर्यावरण रक्षा आंदोलन, आदिवासी भू-रक्षा आंदोलन, गंगा बचाओ, नंदीग्राम-लालगढ़ संघर्ष, सिंगूर आंदोलन, बंधुआ मुक्ति आंदोलन आदि। इनकी जड़ें उदारीकरण, निजीकरण और विनिवेशीकरण में जमी हुई हैं। वर्तमान समय के असंतोष, प्रतिरोध और प्रतिरोध के माध्यम को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए 18वीं और 19वीं सदी के आरम्भिक औपनिवेशिक काल की पड़ताल की जरूरत है। चूंकि औपनिवेशिक शासकों ने अपने साम्राज्यवादी और व्यापारिक हितों को ध्यान में रखकर आदिवासी समाज की पारंपरिक संरचनाओं को परिवर्तित करने की कोशिश की। उनके सांस्कृतिक और आर्थिक अधिकारों में हस्तक्षेप किया। इन प्रक्रियाओं का हिंसक विरोध भी हुआ, जैसे मिदनापुर विद्रोह, रंगपुर-जोरहाट, चकमा विद्रोह, वेलुथम्बी विद्रोह, पलामू विद्रोह, रंगपुर किसान विद्रोह, काल्पी विद्रोह, खासी विद्रोह, भील विद्रोह आदि। बीसवीं सदी में भी इस प्रतिरोध की निरन्तरता बनी रही।

उदारीकरण के दौर में नागरिक समाज के प्रतिनिधियों ने पर्यावरण, प्रदूषण, सूचना का अधिकार, नागरिक स्वतंत्रता, उपभोक्ता अधिकार, साम्प्रदायिक-सौहार्द, जन-जागरण आदि सैकड़ों मुद्दे उठाए हैं। हालांकि वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्था में इनकी बहुआयामी भूमिका को नजरअंदाज करना गलत होगा। भूमंडलीकरण वास्तव में राष्ट्र राज्य के आर्थिक प्रबन्ध की क्षमता का क्षरण कर रहा है। इस विफलता पर विचार करते हुए कमलनयन काबरा लिखते हैं, "कई तरह के आगत भारत के चित्र उकेरे जाते हैं। कई योजनाएं तथा प्रकल्प इक्कीसवीं सदी के भारत की प्रगति के अभियान बनाए जाते हैं। कहां और कैसी है उनमें आम आदमी की जगह?"[3] भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को विशुद्ध आर्थिक रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता, चूंकि आर्थिक क्रियाओं का सीधा संबंध मानवीय समाज से होता है, इसलिए एक बहुसंख्यक वर्ग को ध्यान में रखकर इसके सकारात्मक और नकारात्मक पहलुओं पर चर्चा होनी चाहिए। वर्तमान

[3]कमल नयन काबरा, *भूमंडलीकरण के भंवर में भारत*, पृ. 73.

समय में जो स्थिति है उसे देखकर यही ज्ञात होता है कि भूमंडलीकरण के कारण भारत देश कहीं न कहीं पुनः उस इतिहास को दोहरा रहा है जिस समय वह ब्रिटिश सत्ता का गुलाम था।

भारतीय अर्थतंत्र पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और विश्व बैंक का नियंत्रण बढ़ता भी जा रहा है। यह नियंत्रण इतना सशक्त हो गया है कि राष्ट्रीय योजनाएं भी इनसे प्रभावित हैं। प्रभा खेतान अपनी पुस्तक में माइकेल हार्ट एवं एंटोनियों नेग्री की पुस्तक *साम्राज्य* का हवाला देते हुए कहती हैं, "विश्व की यह नयी परिस्थिति एक संजाल है, जिसमें दुनिया की महत्वपूर्ण संस्थाओं की परा-राष्ट्रीय पूंजी लगी हुई है।...यह वही पुराना साम्राज्यवाद है जो नयी-नयी भूमंडलीय एकता और भाईचारे को बुलन्द कर रहा है।"[4] भूमंडलीकरण के एक दशक के बाद यह ज्वलंत प्रश्न हमारे समक्ष है कि अर्थव्यवस्था को कैसा होना चाहिए? उत्तर है कि ऐसी जिससे उसे राजनीतिक नियंत्रण से मुक्ति मिले और वह वास्तव में आर्थिक प्रगति करे। चूंकि स्थानीय और क्षेत्रीय पूंजीपतियों की गगनचुम्बी महत्त्वाकांक्षाएं, विनिवेशीकरण के तहत निजी क्षेत्रों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्रों की लूट, राज्य की दमनकारी शक्ति का विस्तार, उपभोक्तावादी संस्कृति का वर्चस्व, ग्रामीण असंतोष आदि बहुसंख्यक वर्ग को भीतर से खोखला कर रहा है। आज जब 19वीं और 20वीं सदी में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के नए अवतार जन्म ले रहे हैं, ऐसे में दोनों ही प्रकार के प्रतिरोधों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

भूमंडलीकरण के दूसरा चरण मुख्य रूप से ऑटोमेशन, कंप्यूटरीकरण और संचार क्रांति का रहा। जिसके लिए समाज को उच्च मध्यवर्गीय स्त्रियों की आवश्यकता थी। ऐसे में उनके लिए विज्ञापन की दुनिया को खोला गया। उपभोक्ताओं को लुभाने के लिए सौंदर्य उद्योगों को बढ़ावा दिया गया। भूमंडलीकरण ने स्त्रियों के सामाजिक पहलू की ओर ध्यान नहीं दिया। जिससे सामाजिक संतुलन काफ़ी हद तक प्रभावित हुआ। नब्बे के दशक में शुरू हुए भूमंडलीकरण के

[4]प्रभा खेतान, *भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र*, पृ. 177.

समर्थकों से नारीवादी सिंथिया एन्लो ने पूछा था, "तुम्हारी व्यवस्था में औरतें कहां हैं।"[5] भूमंडलीकरण के समर्थक यह दावा करते है कि इस व्यवस्था ने स्त्रियों को सशक्त बनाया है और स्त्रियों की राजनीति में भागीदारी को भी सुनिश्चित किया है। साथ ही वे आर्थिक रूप से भी आत्मनिर्भर बनी हैं। इसमें कोई दोराय नहीं है कि भूमंडलीकरण के तहत श्रम का स्त्रीकरण हुआ और श्रमिकों में इनकी संख्या बढ़ी। चीन, दक्षिण कोरिया, वियतनाम, भारत, मलेशिया, श्रीलंका, बांग्लादेश, इंडोनेशिया आदि देशों में भूमंडलीकरण के कारण स्त्रियों की स्थिति में जो परिवर्तन आया, उसकी खोज की गयी है। जिसमें पाया गया कि नब्बे के दशक में स्त्रियों के बाज़ार संबंधी क्रियाकलापों में तेजी आई है।

1986 से लेकर 1996 के मध्य श्रम शक्ति का बड़े पैमाने पर स्त्रीकरण हुआ है। परन्तु उन्हें गैरपारम्परिक औद्योगिक उत्पादन में झोंक दिया गया है। यहां 'फोर्ड फाउंडेशन' का जिक्र करना आवश्यक हो जाता है। 'फोर्ड फाउंडेशन' मुक्त बाज़ार व्यवस्था का समर्थक रहा है। जिसके पास तथ्यों और आंकड़ों का एक लम्बा इतिहास रहा है। वह पश्चिम बंगाल की स्त्रियों द्वारा ग्राम्य परम्पराओं का प्रयोग करके घरेलू हिंसा रोकने की बात करता रहा है। अमेरिका के द्वारा चलाए गये छोटे-छोटे उद्यमों से स्वरोजगार की बात करता है। इसी के साथ इंडोनेशिया में इस्लामिक धर्मशास्त्रों की शिक्षा ने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में भी मदद पहुंचाई है। इनका मानना है कि मुक्त व्यवस्था ने स्त्री को आज़ाद कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है जिसमें श्रम तथा अन्य सेवाओं के लिए स्त्रियों से जबरन श्रम करवाया जाता है। बाज़ार, स्त्रियों के मानवीय, राजनैतिक और नागरिक अधिकारों का हनन करके सम्पन्न होता है। इस व्यवस्था ने वेश्यावृत्ति को भी बढ़ावा दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ का अनुमान है कि 1998 में चालीस लाख स्त्रियों का निर्यात हुआ। सास्किया का दावा है, "यौन व्यापार का यह परिदृश्य

[5]हंस पत्रिका, अंक- मार्च, 2001, पृ. 27.

सीधे-सीधे भूमंडलीकरण से जुड़ा है।"[6] आंकड़े बताते है कि एशियाई और अन्य गरीब देशों ने स्त्रियों के निर्यात की वैकल्पिक रणनीति नब्बे के दशक के बाद आये आर्थिक संकटों के बाद अपनाई।

पूंजी के मुक्त प्रवाह के कारण देशों ने कर्ज़ मुक्ति के लिए किसी न किसी देश की मुद्रा को स्त्रोत के रूप में अपनाने का प्रयास किया। ये स्थितियां रोजगार के अनौपचारिक क्षेत्र, आव्रजन और वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित करती हैं। आर्थिक अवसरों के घटने से व्यक्ति अनैतिकता के रास्ते पर भी चलने के लिए मजबूर हो जाता है। 21वीं सदी के वर्तमान कालखंड में भूमंडलीकरण का तीसरा चरण शुरू हो चुका है। एक प्रकार का अदृश्य साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद दक्षिण एशिया को घेरे हुए है। विश्व की स्थिति भी लगभग वही है। 'विश्व व्यापार संगठन' की स्थापना के साथ ही दुनिया के अधिकांश राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था या राजनीतिक अर्थव्यवस्थाएं भूमंडलीकरण या वैश्विक पूंजीवाद का हिस्सा बन चुकी हैं जिसने पूरे परिदृश्य को बदल दिया है। प्राय: सत्ता और शक्ति संबंधी संघर्ष इतिहास की भूमि पर होते हैं।

उपनिवेशवाद, दूसरे देशों और समाजों के वर्तमान और भविष्य पर कब्ज़ा करने के लिए, राजनीति के माध्यम से, उनके इतिहास पर भी कब्ज़ा करता रहा है। ग्राम्शी कहते हैं, "मुक्त व्यापार भी एक प्रकार का नियंत्रण है जो कानून और ताकत से लागू किया जाता है। वह जानबूझकर बनाई गयी ऐसी नीति है, जो अपने लक्ष्यों के बारे में सचेत है। वह आर्थिक स्थिति का स्वभाविक और स्वतंत्र विकास नहीं है।"[7] आज भारत के अधीन वर्गों की चिंता करने वालों के सामने मुख्य सवाल भूमंडलीकृत भारत की अर्थनीति और राजनीति को केवल समझने और व्याख्या करने का ही नहीं है, बल्कि उसको समझते हुए बदलने का भी है। औद्योगीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण,

---

[6]हंस पत्रिका, अंक- मार्च, 2001, पृ. 29.

[7]मैनेजर पाण्डेय, *भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा*, पृ. 192.

आधुनिकीकरण, लौकिकीकरण जैसी प्रक्रियाओं की परंपरागत भारतीय सामाजिक संरचना के स्वरूप को बदलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सामाजिक व्यवस्था द्वारा सामाजिक परिवर्तन का भी विरोध इसलिए किया जाता है ताकि व्यवस्था में विघटन की परिस्थिति विकसित न हो पाए। इसलिए व्यवस्था की सुस्थापित सामाजिक प्रणालियां परिवर्तन का प्रतिरोध करती हैं तथा उसे विनियमित करने का प्रयास करती हैं।

सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में सामाजिक संरचना एवं स्तरीकरण की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज के शासक प्रभावशाली वर्ग अधिकतर उन सभी सामाजिक परिवर्तनों का प्रतिरोध करते हैं जो उनकी स्थिति को बदल सकते हैं। वे स्थायित्व में अपना हित समझते हैं। दूसरी ओर, अधीनस्थ अथवा शोषित वर्गों का हित परिवर्तन में होता है। सामान्य स्थितियां अधिकांशत: अमीर तथा शक्तिशाली वर्गों की तरफ़दारी करती हैं, वे परिवर्तन के प्रतिरोध में सफल भी होती हैं। इससे भी समाज में स्थिरता बनी रहती है। इन प्रक्रियाओं ने भारतीय सामाजिक संरचना के लगभग सभी परंपरागत लक्षणों को परिवर्तित किया है। उदाहरणार्थ- जातीय श्रेणियों में पाए जाने वाले संस्तरण पर आधारित परंपरागत सामाजिक संरचना जातीय निषेधों में होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप परिवर्तित हो गई हैं।

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप भारत में देशी-विदेशी निगमों का जो जाल फैल रहा है उसका सबसे भयावह रूप खदानों से सम्बंधित उद्योगों के विस्तार में दिखाई देता है। खदानें अधिकतर उन जंगली और पहाड़ी इलाक़े में हैं जहां आदिवासी वास करते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हम गाँधी जी की कल्पना के स्वराज में रह रहे हैं? क्या भारत विदेशी नियंत्रण से पूरी तरह मुक्त है? जनता पूंजीवाद से उपजी अपनी तबाही के विरुद्ध लड़ रही है, राष्ट्र अपनी पहचान की रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं और राज्य विदेशी दवाबों और प्रभावों से छुटकारे के लिए छटपटा रहे हैं। जिस तरह भूमंडलीकरण ने बाज़ार को विस्तार दिया है उससे भाषा पर भी खतरा

मंडराता नज़र आ रहा है। सुविधा की दृष्टि से एक भाषा का प्रयोग बाज़ार के संचालन के लिए किया जाता है जिससे एक भाषा अर्थात् अंग्रेजी का वर्चस्व दूसरी भाषाओं के लिए खतरा बन जाता है। भाषा किसी भी संस्कृति के केंद्र में होती है। जब भाषाएं खतरे में होंगी तब उनमें रची-बसी हुई संस्कृतियां भी खतरे में होंगी। चूंकि पूंजीवाद का भूमंडलीकरण हर तरह की बहुलता का विरोधी है और एकरूपता की स्थापना का प्रयास करता है। पूंजीवाद ने एक तरह से उन्मादी व्यक्तिवाद को जन्म दिया है परिणामस्वरूप आज जिस समाज का निर्माण हो रहा है वहां अब राष्ट्र, राज्य, वर्ग और विचारधारा जैसी अवधारणाएं अपना अर्थ खो रही हैं।

1.1 विकास की अवधारणा

विकास का प्रारम्भ मूलतः उत्तर औपनिवेशिक काल का एक सृजनात्मक रूप माना जाता है। इसकी शुरुआत दूसरे विश्वयुद्ध के बाद हुई। औद्योगिक अर्थव्यवस्था में जो परिवर्तन हुए उनमें अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई औद्योगिक क्रांति पहला परिवर्तन था। इतिहासकारों ने दो युगांतकारी घटनाओं की पहचान की है, उन्नीसवीं सदी में शुरू हुई संसाधन की क्रांति और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सूचना के क्षेत्र में क्रांति। धीरे-धीरे इसने अंतर्राष्ट्रीय उद्योग का रूप ले लिया।हालांकि आधुनिकीकरण की जड़ें पंद्रहवीं और सोलवीं शताब्दी के यूरोप में देखी जा सकती है, उससे जुड़े सर्वाधिक परिवर्तन 19वीं सदी के मध्य और अंत के दशकों में हुए। ब्रिटिश राज से पूर्व भारत की अपनी स्वतंत्र अर्थव्यवस्था थी और आजीविका का मुख्य स्रोत कृषि था। इसी के साथ रेशमी वस्त्र, धातु और बहुमूल्य रत्न आदि के क्षेत्रों में भी भारत विख्यात हो रहा था। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद बनाई गयी आर्थिक नीतियों में भारत का आर्थिक विकास नहीं अपितु अपने मूल देश के आर्थिक हितों को प्राथमिकता दी गयी। परिणामस्वरूप इन नीतियों ने भारत की अर्थव्यवस्था के मूल स्वरुप को बदल कर रख दिया। भारतीय अर्थव्यवस्था को कच्चे

माल प्रदायक तक ही सीमित कर दिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में कुछ आधुनिक उद्योगों की स्थापना होने लगी थी, परन्तु गति बहुत धीमी थी।

अंग्रेजों ने 1850 में भारत में रेलों का निर्माण किया। यह उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान था। चूँकि रेलों ने भारत की अर्थव्यवस्था की संरचना को काफ़ी हद तक प्रभावित किया। भारत के निर्यात में विस्तार हुआ। एमेंयुएल वालेरस्टाइन कहते हैं, "पूंजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था की स्थपाना की तीन शर्तें होती हैं- विश्व के भौगोलिक आकार में वृद्धि, विश्व अर्थव्यवस्था के विभिन्न कटिबन्धों के विभिन्न उत्पादों में श्रम-नियंत्रण की बहुवर्णी विधियां और पूंजीवादी वैश्विक अर्थव्यवस्था के केन्द्रीय राज्यों में सशक्त तंत्रों का निर्माण।"[8] आरम्भिक अर्थशास्त्र में विकास की अवधारणा बड़ी सरल और सीधी थी, विकास का तात्पर्य था राष्ट्र की स्थिर अर्थव्यवस्था की 5 से 7 प्रतिशत या उससे अधिक की दर से सकल राष्ट्रीय उत्पाद को बढ़ाना और बनाए रखना। परन्तु अर्थशास्त्रियों का यह गणित विकासशील देशों के सन्दर्भ में नहीं चला। परिणाम यह हुआ कि विकास का लाभ जनसंख्या के एक छोटे से हिस्से तक ही सीमित रह गया, वह आम आदमी तक नहीं पहुंच पाया। वास्तव में औद्योगीकरण और विकास स्वयं में क्रांतिकारी प्रक्रियाएं हैं जिसमें आर्थिक महत्व के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य भी महत्वपूर्ण हैं।

आर्थिक दासता और सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में विषमता एवं उत्पीड़न के खिलाफ़ चेतना का विस्तार साठ-सत्तर के दशक में संगठित रूप धारण करने लगा था। परन्तु दक्षिण भारत की ओर यदि ध्यान दें तो मुख्यत: केरल में भूमिहीन किसान और खेत मजदूरों की यह दावेदारी जहां पहले शुरू होती है वहां हिंदी पट्टी में यह बहुत देर से शुरू होती है। हिंदी पट्टी में नक्सलबाड़ी आंदोलन-भोजपुर आंदोलन प्रखर आवेग ही था जिसने वर्ग समुदायों को स्वतंत्र पहचान दी और उनके प्रश्न राजनीति की मुख्यधारा से टकराए। यहीं से राजनीति में वामपंथी धारा का भी उभार

[8]श्यामचरण दुबे, *विकास का समाजशास्त्र*, पृ. 20.

हुआ। इसी का परिणाम था कि *बलचनामा* जैसे उपन्यास लिखे गये। बाबा नागर्जुन और महाश्वेता देवी के उपन्यास इस अनुगूंज की प्रतिध्वनि थे। भारत में कृषि का विकास, क्षेत्रीय असमानता और असंतुलन खेतिहर मजदूरों की क्षेत्रवार स्थितियों में विभिन्नताओं को सामने लाता है। धीरे-धीरे जब समाज में पूँजी का निवेश बढ़ने लगा तो पुराने रूप वाले बंधुआ श्रम-संबंधों में कुछ परिवर्तन आया।

भूमंडलीकरण के इस दौर में आज हमारे समक्ष विकास के जो मॉडल रखे जा रहें हैं, उनका रूप एकाकी है जो बड़े ही सीमित अर्थ में समाज को आधुनिक और विकसित करना चाहता हैं। भारत में शहरों की ओर बढ़ते प्रवास को संभालने की क्षमता सीमित है। बढ़ते शहरीकरण ने परम्परागत सामाजिक ढांचे को पलट कर रख दिया है। विकास का यह स्वरुप सामान्य जन को प्रव्रजन और विस्थापन की और धकेल रहा है। ये समस्याएं विकास के पर्याय के रूप में हमारे सामने परोसी जा रही हैं। आजादी के बाद भारत में नियोजित विकास की नीति अपनाई गई। इसमें नीति निर्माताओं की एक खास प्राथमिकता सिंचाई और बिजली पैदा करने के लिए जल संसाधनों के उपयोग की रही।

आजादी के बाद आरंभिक वर्षों में ही भाखड़ा, हीराकुंड, तुंगभद्रा, और दामोदर घाटी बांध जैसी जल संचय की बड़ी परियोजनाएं लागू की गई। बड़े बांधों की कई परियोजनाओं के बारे में स्वतंत्र अनुभवजन्य अनुसंधान से यह बात साबित हुई है कि कैसे इन परियोजनाओं का नियोजन करते समय उनसे जुड़ी सामाजिक, मानवीय और पर्यावरण संबंधी कीमत की अनदेखी की गई या उन्हें कम करके बताया गया। बड़े बांधों के ऐसे जिन पक्षों की उपेक्षा की गई, उनमें से कुछ समाज और मानवीय जीवन के लिए बेहद गंभीर परिणाम हुए। अधिकांश परियोजनाओं के नियोजन की शुरुआत विस्थापन एवं पुनर्वास के विभिन्न चरणों के दौरान यह अपेक्षा की जाती है कि जिन लोगों पर परियोजनाओं का बुरा असर पड़ रहा है, उनकी राय जानी जाए और इस रूप में

उन्हें जानकारी दी जाती रहे, जिससे वे अपने उजड़े जीवन को यथासंभव सर्वश्रेष्ठ ढंग से फिर से बसा सकें। लेकिन हकीकत इससे बहुत दूर है। अध्ययनों से यह बात सामने आई है कि बांध, डूब और उससे होने वाले विस्थापन के बारे में प्रभावित लोगों के पास बेहद कम सूचना थी। कहा जा सकता है कि विस्थापित लोगों पर सरकार द्वारा थोपी गई दयनीयता का सबसे बुरा पहलू कई बार विस्थापित होने की परिघटनाएं हैं। यह दस्तावेजों में दर्ज है कि सिंचाई, ताप बिजली और कोयला खनन एजेंसियों के बीच तालमेल की कमी के कारण सिंगरौली में ज्यादातर विस्थापित दो या तीन दशकों के भीतर कम से कम दो बार उजड़े। कुछ तो तीन या चार बार भी विस्थापित हुए।

विस्थापितों में एक और बेहद कमजोर समूह भूमिहीन विस्थापितों का है, जिनमें खेतिहर मजदूर भी शामिल हैं। भारतीय कानून में क्षतिपूर्ति का प्रावधान मात्र उन विस्थापित लोगों के लिए है, जिनकी जायदाद 'सार्वजनिक उद्देश्य'की परियोजना के लिए ली जाती है। जबकि अधिग्रहीत जमीन पर अपनी आजीविका के लिए निर्भर भूमिहीन परिवार विस्थापन से सबसे गंभीर रूप से दरिद्र हो सकते हैं, क्योंकि वे अपनी जिंदगी के अकेले आर्थिक स्रोत को खो देते हैं। लेकिन कानून और ज्यादातर पुनर्वासनीतियों में ऐसे लोगों के अधिकार को कोई मान्यता नहीं दी गई है। विकास के दूसरे पहलू पर विचार करते हुए कमल नयन काबरा लिखते हैं,

> इस विकास के सब कारक और साधन एक छोटे से तबके के हाथ में केन्द्रित होने के रास्तें में भिन्न देशों की नागरिकता को आड़े नहीं आने देने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा राष्ट्रोपरी बहुपक्षीय संस्थानों को आगे बढ़ाया गया।...इन्हीं के द्वारा जीवन की गुणवत्ता का सुधार या मानवीय विकास आदि लुभावने नाम दिए गए। विकास निर्धारक, विकास क्रियान्वयन तथा विकास लाभार्थी तबकों की ऐसी एकमेव, एकाकार हुई स्थिति आदमी के अब तक के इतिहास की पहली घटना है।[9]

इस दौर में हम जैसे-जैसे विकास की सीढियां चढ़ रहें हैं, भयावह भविष्य हमारे समक्ष खड़ा प्रतीत होता है जो वर्तमान को कुरेदते हुए निरंतर आगे बढ़ रहा है।

---

[9]कमलनयन काबरा, *भूमंडलीकरण के भंवर में भारत*, पृ. 24.

विकास की पृष्ठभूमि ने जिन लोगों को विस्थापन का दंश सहने के लिए मजबूर किया है उन्हें सामान्यत: विकास विरोधी समझा जाता है लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि कौन सा समूह या व्यक्ति ऐसा होगा जो स्वयं का और समाज का विकास नहीं चाहेगा। वर्तमान समय में विकास की उपलब्धियां बुद्धि को चकित करने वाली हैं जो एक ओर विश्व को एकध्रुवीय तो बनाना चाहती हैं साथ ही असंतुलित विकास की वृद्धि से अनेक समस्याओं को जन्म भी दे रहीं हैं। भारत में सरकारी नीतियों और विकास के मॉडलों को जानने के लिए उसके इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी। सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि भारत में रेलनिर्माण के लिए सर्वप्रथम भूमि अधिग्रहण को कानूनी रूप दिया गया होगा परन्तु वास्तविकता यह है कि इसके बहुत पहले सन् 1824 ई. में नियम-1 के तहत यह कार्यवाही प्रारम्भ हो चुकी थी। समयानुसार इन नियमों में काफी संशोधन कर भूमि अधिग्रहण (संशोधन) अधिनियम, 1984 संसद से पारित कराया गया। सन् 1863 तक निजी व्यक्तियों या कम्पनियों के लिए सार्वजानिक सुविधाओं से तात्पर्य था, कोई भी पुल, सड़क, रेलपथ, सिंचाई या नहर निर्माण, नदी या तट सुधार कार्य, कृत्रिम बंदरगाह निर्माण आदि से संबंधित कार्यों का होना। यह कानून इन्हीं उद्देश्यों तक ही सीमित था। परन्तु आज़ादी के बाद भारत सरकार ने सन् 1984 में जो संशोधन किये उसके पारित हो जाने से इसके अंतर्गत कम्पनी अधिनियम में पंजीकृत गैर सरकारी कम्पनियों, सोसाइटी अधिनियम 1860(2) के अंतर्गत पंजीकृत सोसाइटियों और सरकारी समितियों के लिए भी भूमि अधिग्रहित की जा सकती है। इस प्रकार 1894 में जो भूमि अधिग्रहण कानून बना उसे 1984 के संशोधन के साथ जनविरोधी बना दिया गया। वर्तमान में जो भूमि अधिग्रहण किये जा रहे हैं वह अधिग्रहण बांध, कारखानों, रेल, हवाई जहाज, औद्योगिक क्षेत्र, सुरक्षित वन, सड़क निर्माण तथा खेल के स्टेडियम आदि बनने तक के लिए किये जा रहे हैं।

आज़ादी के बाद अनेक योजनाएं बनाई गयीं जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य एवं अन्य समस्याओं को लेकर बड़ी-बड़ी योजनाएं हमारे सामने आई। वहीं दूसरी ओर परियोजनाओं के निर्माण के सामानांतर विकास से उजड़े समुदाय को किसी विकास परियोजना के अंग के रूप में सम्मिलित करने के प्रति उत्सुकता नहीं दिखती है। आज नीतियों के अंतर्गत होने वाली परियोजनाएं विस्थापित व्यक्तियों को उनकी मूल संरचना सहित सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए भूमि का अनिवार्य अधिग्रहणतथा उन्हें अपने घर, परिसंपत्तियों तथा आजीविका के साधन छोड़ने के लिए मजबूर कर देती हैं। उन्हें अपनी भूमि से वंचित होने के अलावा अपनी आजीविका और संसाधन से भी वंचित होना पड़ता है। भारत में मौजूदा विकास के मॉडल ने आम जनता को भयानक कठिनाई दी है जो एक सीमित वर्ग को लाभ मुहैया करा रहा है। इससे ग्रामीण जनता को गहरा आघात पहुंचा है। हाल के वर्षों में खनिज प्रधान क्षेत्रों मसलन छत्तीसगढ़, झारखंड, ओड़िसा, पश्चिमी बंगाल तथा महाराष्ट्र में भी कुछ हिस्सों में जहां स्थानीय लोग साम्राज्यवाद समर्थित विकास मॉडल के विरूद्ध संघर्ष कर रहे हैं। इससे एक प्रतिरोधी स्वर विकसित हुआ है।

यदि हम वैश्विक स्तर पर विस्थापन की समस्याओं की गणना करें, तो भारत वह देश ठहरता है, जहां भूमंडलीकरण के आगमन से विकास के पर्याय के रूप में विस्थापन की समस्या का दायरा बढ़ा है। भारत में यह समस्या सन् 2000 के बाद और बढ़ती गयी है जहां 'आंतरिक विस्थापन' बड़े पैमाने पर हुआ है। आज़ादी के बाद से बांधों, खदानों, ताप बिजली संयंत्रों, कॉरिडोर परियोजनाओं, फील्ड फायरिंग रेंज, एक्सप्रेस-हाइवे, हवाई अड्डों, राष्ट्रीय पार्कों, अभ्यारणों, औद्योगिक नगरों और यहां तक कि पौल्ट्री फार्म्स के लिए भी लोग विस्थापित हुए हैं। भारत में विस्थापन का दूसरा कारण प्राकृतिक आपदाएं हैं। हर वर्ष बाढ़ के कारण हजारों लोगों को विस्थापित होना पड़ता है।

भारत में बंगाल, उड़ीसा, आंध्रप्रदेश, केरल, असम, बिहार, गुजरात, उत्तरप्रदेश, हरियाणा और पंजाब ऐसे राज्य हैं जहां बाढ़ का प्रभाव अधिक होता है। दूसरी ओर कश्मीर भी लगातार विस्थापन का दंश सहता रहा है। यहाँ विस्थापन के अलग-अलग कारण हैं- आतंकवाद, अतिधर्मवाद, साम्प्रदायिकता आदि। भूमंडलीकरण के इस दौर में विस्थापन की समस्या देश के हर कोने में व्याप्त है अंतर सिर्फ अनुपात का है। इसके अतिरिक्त झारखण्ड जैसे राज्यों में विस्थापन का एक अन्य कारण भी है जिसे 'फील्ड फायरिंग रेंज' कहते हैं। जहां थल सेना द्वारा गोलीबारी का अभ्यास किया जाता है। कुल तीन फील्ड फायरिंग रेंज हैं- नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज, होरहाप फील्ड फायरिंग रेंज, देवरी-डुमरी फील्ड फायरिंग रेंज। इन तीनों में सेना द्वारा गोलीबारी के अभ्यास किये जाने से आदिवासी व गरीब जनता को भारी क्षति उठानी पड़ी है। रमणिका गुप्ता अपनी पुस्तक में बताती हैं,

> भारत सरकार ने वर्ष 1993 में अधिसूचित नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज को अधिग्रहित रेंज बनाने के लिए विशाल पायलट प्रोजेक्ट योजना बनाई थी, जिसे गुमला और पलामू जिला के 245 आदिवासी बहुल गांवों के 25000 परिवारों के लगभग 2,35,000 लोगों के विस्थापित होने का खतरा था।...9 अप्रैल 1994 को रांची और नयी दिल्ली में विशाल प्रदर्शन कर विस्थापन के खिलाफ आदिवासियों के जंगल-जमीन पर अधिकार का नारा बुलंद किया। फलस्वरूप भारत सरकार को इस योजना को रद्द करना पड़ा।[10]

ऐसी योजनाओं के कारण भी आदिवासी जनता विस्थापित होती रही है। आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी आदिवासी शोषित, उपेक्षित और पीड़ित नज़र आते हैं। राजनीतिक पार्टियां इनके उत्थान की बात तो करती हैं पर उस पर अमल नहीं करती हैं। आदिवासी किसी विशेष क्षेत्र या राज्य तक सीमित नहीं है बल्कि पूरे देश में फैले हैं। कहीं इनका सामना नक्सलवाद से है तो कहीं ये अलगाववाद की समस्या से जूझ रहे हैं। उड़ीसा के कंधमाल में आदिवासी धर्मान्धता का शिकार

[10]रमणिका गुप्ता (संपा.), *आदिवासी विकास से विस्थापन*, पृ. 73.

हुए हैं। छत्तीसगढ़, उड़ीसा और झारखण्ड में आदिवासी नक्सलवाद की त्रासदी को झेल रहे हैं। मेघालय, नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश तथा अन्य प्रान्त के आदिवासी समुदाय अलगाववाद का शिकार होते रहे हैं। जल, जंगल और जमीन को लेकर इनका शोषण निरंतर जारी है। विकास की पूंजीवादी अवधारणा या रास्ता विनाश का रास्ता बन गया है। वह जीवन और प्रकृति के विनाश का भी स्रोत बन गया है। आज दुनिया भर में कुलीन आर्थिक संस्थाओं- आइएमएफ़, वर्ल्ड बैंक, एनएफटीए, डब्यूटीओ आदि के खिलाफ़ विद्रोह हो रहे हैं। विकास के वैकल्पिक रास्ते पर, न्यायोचित और टिकाऊ मानवीय विकास (Equitable and sustainable human development) के रास्ते का सवाल बहस के केंद्र में आ गया है।

झारखंड और उत्तर प्रदेश के सोनभद्र, मिर्जापुर के आदिवासी इलाके में मलेरिया महामारी के रूप में मौजूद है। बरसात में डायरिया फैलना एक आम बात है। नदियों का पानी इस कदर प्रदूषित है कि स्वर्णरेखा के किनारे के ग्रामीणों में कुष्ट रोगियों की और सोनभद्र के कुछेक इलाकों में विकलांगों की संख्या तुलनात्मक रूप से बहुत ज्यादा है। खान में काम करने वाली आबादी टीबी, और खांसी के मरीज में बदल रही है। जादूगोडा के इलाके में रेडियो एक्टिव कचरे ने आदिवासियों की अगली पीढ़ी को ही विकलांग बना दिया। 90 के दशक के 'डायरेक्टरेट ऑफ हेल्थ सर्विसेज' की और उसके बाद के भी इन इलाकों के स्वास्थ्य संबंधी रिपोर्टें यही बयान करती हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि पिछले कुछ दशकों में विकास की गति में इस तरह परिवर्तन हुआ है कि जिन बदलावों के लिए सदियां लग गयीं वे कुछ ही दशकों में संभव हो गया। यदि हम कृषि का उदाहरण लें तो आधुनिक कृषि पारम्परिक कृषि की तुलना में अधिक वैज्ञानिक हो गयी है। पारंपरिक खेती आदिवासियों के लिए भले ही श्रेष्ठ रही हो, परन्तु बदलते परिवेश और बढ़ती आवश्यकताओं के लिए वही कारगर हो यह संभव नहीं है। दरअसल आदिवासियों की कृषि और जंगल पर आधारित आर्थिक व्यवस्था को सीधे तौर पर कोई फ़ायदा

नहीं पहुँचता। यही कारण है कि शिक्षित आदिवासियों को बेहतर विकल्प के लिए प्रव्रजन का सहारा लेना पड़ता है।

आदिवासी बहुल इलाकों में विकास की जिन योजनाओं को लागू किया जाता है उन उपक्रमों में आदिवासियों की भागीदारी को सुनिश्चित नहीं किया जाता। यदि विकास की भूमिका में आदिवासियों को शामिल किया जाये तो निश्चित रूप से विस्थापन और प्रव्रजन की समस्या का प्रश्न न आये। वेरियर एल्विन के अनुसार, "कमजोर और वलिष्ठ समाजों के बीच का टकराव वस्तुतः उपनिवेशवादियों और आदिम मानव के बीच का संघर्ष होता है।"[11] अपनी जमीन से बेदखल आदिवासी जब रोजगार की तलाश में प्रव्रजन करते हैं तो वे 'माइग्रेंट लेबर' कहलाते हैं। समय के साथ-साथ, जंगलों और खनिज संपदा की इस धरती पर बड़ी कंपनियों की रूचि बढ़ने लगी और इस संभाग के दक्षिणी और उत्तरी इलाकों में लौहअयस्क और बॉक्साइट सहित खनिज का खनन शुरू हो गया। कई कंपनियों ने अपने उद्योग चलाने के लिए सरकार की मदद से ज़मीन का अधिग्रहण शुरू किया तो यहाँ के आदिवासियों और प्रशासन के बीच संघर्ष की बुनियाद पड़ने लगी। इस संघर्ष में लोगों के साथ खड़े होने के नाम पर माओवादी भी आदिवासी बहुल इस इलाके में अपनी पैठ जमाते चले गए। माओवादियों और सुरक्षा बलों के संघर्ष के बीच पिसना भी बस्तर के लोगों की नियति बन गयी। फिर दौर आया विस्थापन और प्रव्रजन का। समकालीन जनमत के एक लेख के अनुसार,

> भूमंडलीय अर्थव्यवस्था के आश्चर्यजनक विस्तार ने पर्यावरण को उपेक्षित किया है और इसलिए अंधाधुंध और अनियंत्रित आर्थिक विकास पर लगाम लगाना जरूरी हो गया है। हमारे पर्यावरण पर आर्थिक विकास के खतरनाक प्रभावों को रोकने अथवा नियंत्रित करने और पूंजीवादी बाजार की आवश्यकताओं के बीच एक स्पष्ट द्वन्द्व खुलकर सामने आया हैः लाभ की तलाश में विकास की

[11]रामशरण जोशी, अनु. अरुण प्रकाश, *आदिवासी समाज और शिक्षा*, पृ. 4.

> अधिकाधिक निरंतरता। यही पूंजीवाद की सबसे कमजोर कड़ी है। इस समय यह कहना मुश्किल है कि दोनों में से जीत किसकी होगी-पर्यावरण की अथवा लाभ की अनियंत्रित मनोवृत्ति की।[12]

आर्थिक कारणों के अतिरिक्त औद्योगिक जगत की चमक-दमक का आकर्षण भी एक समस्या बनकर उभरा है। आंकड़े बताते हैं कि शहरी जीवन का आकर्षण भी विस्थापन का कारण बन रहा है। एक अध्ययन के अनुसार,

> सत्तर प्रतिशत मजदूर तथा चालीस प्रतिशत गाँव प्रधान यह मानते हैं कि श्रृंगार प्रसाधनों के प्रति ललक ने उन्हें बर्बाद किया है। इस तरह की प्रतिक्रिया में एक मात्रात्मक अंतर देखा गया है। इस प्रभाव को सीधे ग्रहण करने वाले मज़दूर अधिक चिंतित हैं जबकि दूर-दराज के गाँव प्रधान कम।[13]

इसके अतिरिक्त आदिवासी स्त्रियों का एक पक्ष यह भी है कि उनके समाज में शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य के क्षेत्र में वे काफी पिछड़ी हुई हैं जबकि डायन बिसाही, हिंसा, विस्थापन आदि सवाल आदिवासी स्त्रियों के विकास को ज्यादा प्रभावित कर रहे हैं। 1766 के पहाड़िया विद्रोह की बात करें या संताल हूल की, बिरसा उलगुलान की या कोल विद्रोह, सरदारी लड़ाई या फिर जतरा टाना भगत के सत्याग्रह आंदोलन आदि की महिलाओं ने पारंपारिक हथियारों से लैस आदिवासी पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेजों का सामना किया और समाज के लिए अपने को समर्पित तक कर दिया। परंतु लैंगिक पूर्वाग्रहों से ग्रसित इतिहास ने उनके बलिदानों को बिसारने का काम किया। नतीजा यह हुआ कि महिलाओं के गरिमापूर्ण संघर्ष की गाथा कहीं दर्ज नहीं हो सकी। फूलो झानो, मकी देवमानी इतिहास में जगह नहीं पा सकी। यह नाइंसाफी स्त्रियों के लिए खतरनाक सिद्ध हुई और उनके हिस्से का सवाल अनुत्तरित रह गया।

वर्तमान समय में विकास के नाम पर विस्थापन की समस्या महिलाओं और बच्चों के लिए जीवन की एक ऐसी त्रासदी साबित हुई जिससे उबरने का रास्ता उनके पास नहीं हैं। देश में

[12] https://samkaleenjanmat.in/development-displacement-and-literarture

[13] उप. पृ. 24.

विकास की कीमत चुकाने वाले लगभग तीन करोड़ लोगों में आधी आबादी स्त्रियों की है। झारखंड में यह संख्या पंद्रह लाख से अधिक है। देश को समृद्धि के पथ पर अग्रसर करने की गर्जना करने वाले राष्ट्र निर्माताओं ने विकास के नाम पर खुशहाल, संपन्नता और अमीरी का वायदा तो किया। लेकिन इन साठ सालों में विकास ने बदहाली, विपन्नता और गरीबी ही पैदा की।इसका सर्वाधिक प्रभाव महिलाओं पर ही पड़ा।

विस्थापन एक ऐसी त्रासदी है जो स्त्रियों और बच्चों के जीवन को अंधकारमय बना देती है। इतना ही नहीं विस्थापन का प्रभाव महिलाओं के जीवन में और भी कई स्तर पर पड़ता है। जिसमें एक जमीन से बेदखली और कानूनी अधिकार से वंचित होना भी शामिल है। आश्चर्य तो यह है कि भूमि अधिग्रहण के समय उन्हें पता भी नहीं होता है कि परियोजना के लिए उनकी जमीन ली जायेगी अथवा नहीं। गांव वालों को इसकी खबर तक नहीं दी जाती है। जहां उन्हें बसाया जाता है उस स्थान में रहने के लिए अस्थायी बैरक और एक-एक कमरे का मकान ही दिया जाता है। यहां से भी उनका उजड़ा जाना तय होता है। विस्थापित होते ही वह अपने बुनियादी हक से भी वंचित हो जाते हैं। विस्थापितों को कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। पेयजल की गंभीर समस्या भी इन्हीं में से है। सदियों से रह रहे गांवों में पानी के कई स्रोत होते हैं। कुंआ, तालाब, दाडी, झरना, नदी, हैंडपंप, पाइप या अन्य स्रोतों से पानी उन्हें मिलता है। लेकिन विस्थापित या प्रभावित होने के बाद ये सारी चीजें खत्म हो जाती हैं। पीने के स्वच्छ पानी के अभाव में वे कई तरह की छोटी-बड़ी बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। टीबी, मलेरिया, डायरिया आदि उनका पीछा नहीं छोड़ती है। शौच के लिए स्थान की कमी भी उनकी बीमारी को बढ़ाती है।

इस प्रकार यदि देखा जाए तो विस्थापन से महिलाएं न सिर्फ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बल्कि शारीरिक व मानसिक रूप से भी इस तरह प्रभावित होती हैं। आदिवासियों के

मध्य काम कर रहे सामाजिक कार्यकर्ता रतन तिर्की कहते हैं, “प्रव्रजन और मानव तस्करी, विस्थापन-पुनर्वास झारखंड की बड़ी समस्या हैं।”[14] साहित्य में इन शोषित वर्गों के द्वारा एक आंदोलन के रूप में कहानी, कविताओं, उपन्यास, आत्मकथा, संस्मरण आदि की रचना की गयी। जिसने हाशिए के समाज की भागीदारी को सुनिश्चित किया। अस्मितावादी साहित्य समाज के उस ठोस यथार्थ को चित्रित करता है जहां संवेदना की गहराई है जबकि व्यापकता कम। आदिवासी स्त्री जीवन के संघर्ष को लेकर रमणिका गुप्ता, महाश्वेता देवी, निर्मला पुतुल, इरोम शर्मिला, जनार्दन गोंड, वंदना टेटे आदि साहित्यकारों ने आवाज़ दी। इन साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में भोगे हुए यथार्थ के साथ-साथ सामाजिक और वैयक्तिक जीवन-संघर्ष की समस्याओं को अभिव्यक्त किया है।

आदिवासी कविताओं और उपन्यासों में सामाजिक विद्रोह, विस्थापन, अस्तित्व की पहचान और शिक्षा जैसी समस्याओं को दिखाया गया है। सदियों से पिछड़ी इन जनजातियों के सामाजिक विकास के साथ-साथ राजनीतिक विकास भी अनिवार्य हो गया है। राजनीतिक रूप से इन जनजातियों को आधुनिक समाज से जोड़ने के लिए संविधान में अनेक प्रावधान भी किये गये हैं। भारत के जंगल समृद्ध हैं, आर्थिक रूप से और पर्यावरण की दृष्टि से भी। देश के जंगलों की कीमत लगभग 1150 खरब रुपये आंकी गई है। ये भारत के सकल राष्ट्रीय उत्पाद से तो कम है लेकिन कनाडा, मेक्सिको और रूस जैसे देशों के सकल उत्पाद से ज्यादा है। इसके बावजूद यहां रहने वाले आदिवासियों के जीवन में आर्थिक समस्याएं कम नहीं हैं।

आदिवासियों की विडंबना यह है कि जंगलों का उद्योगों के रूप में प्रयोग करने पर सरकार को लाभ तो होता है लेकिन इस आमदनी के इस्तेमाल में स्थानीय आदिवासी समुदायों की भागीदारी को लेकर कोई प्रावधान नहीं है। जंगलों के बढ़ते औद्योगिक उपयोग ने

[14]bbc.com, 15 अप्रैल, 2014.

आदिवासियों को जंगलों से दूर किया है। आर्थिक जरूरतों की वजह से आदिवासी जनजातियों के एक वर्ग को शहरों का रुख करना पड़ा है। विस्थापन और प्रव्रजन ने आदिवासी संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज और संस्कार को बहुत हद तक प्रभावित किया है। गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी के चलते आज का विस्थापित आदिवासी समाज, खासतौर पर उसकी नई पीढ़ी, अपनी संस्कृति से लगातार दूर होती जा रही है। आधुनिक शहरी संस्कृति के संपर्क ने आदिवासी युवाओं को एक ऐसे दोराहे पर खड़ा कर दिया है, जहां वे न तो अपनी संस्कृति बचा पा रहे हैं और न ही पूरी तरह मुख्यधारा में ही शामिल हो पा रहे हैं।

1.2 प्रव्रजन और विस्थापन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रव्रजन और विस्थापन की समस्या का इतिहास हालांकि काफी पुराना है परंतु जिस प्रकार सामंतवादी शक्तियों की परिणति भूमंडलीकरण के एक नये भयावह रूप में हमारे सामने आई है ठीक उसी प्रकार विस्थापन की समस्या को भी इसने नवीन कारणों के साथ और अधिक विकराल बना दिया है। विस्थापन मूलतः व्यक्ति, परिवार, अथवा परिवार के समूहों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण है। विस्थापन के अनेक कारण हो सकते हैं- भूकंप, चक्रवात अथवा सुनामी इत्यादि प्राकृतिक आपदाएं, शत्रु देश का आक्रमण अथवा सैनिक अभियान, उग्रवादी, नक्सलवादी आक्रमण, बड़े-बड़े उद्योगों का निर्माण अथवा किसी बड़ी नदी पर बांध आदि परियोजना। विस्थापन की प्रक्रिया हमारे समाज में प्राचीन समय से विद्यमान रही है, परन्तु इसका प्रभाव सदैव नकारात्मक नहीं रहा। अपितु इसने मनुष्य की जड़ता को तोड़ा है और उसे विकास की ओर अग्रसर किया है। इसी विकास क्रम में नगरीकरण और शहरीकरण जैसी प्रक्रियाएं सामने आयीं। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो से ही हमें प्राचीन नगरीय सभ्यता के साक्ष्य मिलने लगते हैं। प्राचीन राजवंशों के शासनकाल में भी नगर हुआ करते थे जिन्हें प्रायः राजधानी

के नाम से भी जाना जाता था। शहरीकरण या औद्योगीकरण किसी भी राष्ट्र या क्षेत्र के आर्थिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कड़ी है। बशर्ते विकास का क्रम नियोजित होना चाहिए। परंतु समय के साथ-साथ विस्थापन ने एक समस्या का रूप ले लिया है। जिससे मानवीय जीवन और सामाजिक संदर्भों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

भारत लंबे समय तक औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी ताकतों के अधीन रहा है हालांकि ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूर्व भारत अन्य राष्ट्रों की तुलना में समृद्ध था। लेकिन 1600 ई. में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी व्यापार के उद्देश्य से भारत आई तब 1757 के प्लासी युद्ध, और 1764 के बक्सर युद्ध के बाद ब्रिटिश सत्ता का आधिपत्य बढ़ता गया। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद राजनीतिक सत्ता पूरी तरह से ब्रिटिश सरकार के हाथों में चली गयी। अब भारत पूर्ण रूप से ब्रिटिश सरकार का उपनिवेश मात्र बनकर रह गया। विपिन चन्द्र आधुनिक भारत का इतिहास में लिखते हैं,

> 1857 के विद्रोह ने भारत में ब्रिटिश प्रशासन को गहरा धक्का दिया और उसका पुनर्गठन अनिवार्य बना दिया। विद्रोह के बाद भारत सरकार के ढाँचे और नीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था और सरकार के लिए भारत में उपनिवेशवाद के एक नए चरण का आरम्भ अधिक महत्त्वपूर्ण था।[15]

सत्ता हाथों में आते ही सरकार ने अनियोजित ढंग से भारत का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। इंग्लैंड चाहता था कि भारत उसके लिए कच्चे माल और प्राथमिक वस्तुओं की आपूर्ति करे और वह स्वयं तैयार माल को उच्च दरों पर भारत में बेचे।

19वीं शती के उत्तरार्ध से औद्योगिक क्रांति का विकास यूरोप, अमेरिका, जापान आदि देशों में तीव्र गति से हो रहा था। बाजारों में विदेशी माल की होड़ लगी थी। वहीं अग्रेजों ने भारत में जो नीति अपनाई उसने भारत की अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में तब्दील कर

---

[15]विपिन चंद्र, *आधुनिक भारत का इतिहास*, पृ. 149.

दिया। भारत में सूती वस्त्र उद्योग, जूट, चाय, कहवा, सीमेंट उद्योग का विकास हो रहा था। दूसरी ओर ब्रिटिश शासन में अत्यधिक भूमि लगान, प्राकृतिक आपदा, कृषि क्षेत्र की बदहाली, लघु एवं कुटीर उद्योग की समाप्ति ने भारत को गरीबी की और धकेल दिया था। ब्रिटिश सरकार अपने लाभ के लिए भारतीय मजदूरों को फीजी, त्रिनिदाद, सूरीनाम, मॉरिशिस आदि जगहों पर भेज रही थी। इससे एक और समस्या का जन्म हुआ, जिसे बंधुआ मजदूर कहा जाता है। दरअसल यह भी विस्थापन का ही एक रूप था। फीजी में गन्नों की खेती या चीनी उद्योग के विकास के लिए ब्रिटिश शासकों को सस्ते मजदूरों की आवश्यकता थी। सरकार ने नगरों और ग्रामीण क्षेत्रों में आरकाटियों का जाल बिछाना शुरू कर दिया। वे भूले-भटके लोगों और मुसाफिरों व गरीबों को झांसा देकर दूसरे देश भेज दिया करते थे। इस समय बड़ी संख्या में लोग गुलाम बनाकर विदेशों में भेजे गए। दूसरी ओर अंग्रेजी सरकार की नज़र लगातार आदिवासी क्षेत्रों पर बनी हुई थी। हालांकि अंग्रेजी सरकार को बार-बार आदिवासियों के प्रचंड प्रतिरोधों का सामना भी करना पड़ा। जिनमें सबसे प्रसिद्ध है 1855-56 का संथाल विद्रोह और 1850-90 में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में डोमबारी पहाड़ी पर ब्रिटिश फौजों के साथ हुआ आदिवासियों का युद्ध। इसी के साथ भूमि अधिग्रहण का सिलसिला भी शुरू हो चुका था।

भारत में 1894 में एक कानून बना, जिसे भूमि अधिग्रहण अधिनियम 1894 के नाम से जाना जाता है। जिसके अनुसार सरकार को किसी भी सरकारी योजना के तहत भूमि अधिग्रहित करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इसमें नागरिकों के हित का कोई प्रावधान नहीं था। इस कानून के आधार पर सरकार ने लगातार तमाम प्राकृतिक संसाधनों पर कब्ज़ा जमा लिया। औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ़ समय-समय पर आंदोलन भी हुए जिसने सरकार को भयभीत किया। विस्थापन के खिलाफ़ एक ऐसा ही आंदोलन1920 में टाटा कंपनी और ब्रिटिश सरकार के सहयोग से पनबिजली परियोजना के लिए बनाए जा रहे बांध के खिलाफ था। आज़ादी के बाद भी यही

व्यवस्था चलती रही। हालांकि मुआवज़े का प्रावधान तो किया गया परन्तु कोई तर्कसंगत सिद्धांत या राशि तय नहीं की गयी।

आज़ादी के बाद देश के सामने सबसे बड़ी चुनौती थी कि भारत का सम्पूर्ण विकास कैसे किया जाए? आज़ादी के साथ-साथ विभाजन की क्रूर त्रासदी को भी भारत को झेलना पड़ा। जिसके अंतर्गत भारत-पकिस्तान का बंटवारा हुआ। इस घटना में लाखों लोगों को विस्थापित होना पड़ा। बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे हुए जिसमें लाखों लोगों को अपनी जान भी गंवानी पड़ी। विभाजन की इस घटना ने मानव-मूल्यों को झकझोर कर रख दिया। लोग अपनी मातृभूमि से दूर जाकर बसने को मजबूर थे। विभाजन की इस त्रासदी को मानव इतिहास में सबसे बड़े विस्थापन के रूप में देखा जाता है। देश को सुचारू रूप से चलाने और उसकी बदहाली को दूर करने की ज़िम्मेदारी अब सरकार की थी। प्रश्न यह था कि किन नीतियों के आधार पर नियोजित विकास की नींव रखी जाए। 1930 के दशक से ही विकास की आधारभूत नीतियों पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हो चुका था।

आज़ादी के बाद 1948 की औद्योगिक नीति लागू करना एक महत्वपूर्ण कदम था। इस प्रस्ताव में ‘मिश्रित अर्थव्यवस्था’ का प्रारूप प्रस्तुत किया गया। इसके पश्चात् प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में 1950 में ‘योजना आयोग’ की स्थापना हुई। भारत पूरी तरह से प्रयासरत था कि आधुनिकीकरण की दौड़ में वह पश्चिम से टक्कर ले सके। जबकि आज़ादी के समय भारत की साक्षरता अत्यधिक कम थी। ऐसे में आधुनिकीकरण का लाभ आगे चलकर अमीर वर्ग को हुआ। पचास-साठ वर्षों में परियोजनाओं के नाम पर जनता को लूटा गया। खनिज सम्पदा पर पूंजीपतियों ने अपना आधिपत्य जमाने के लिए बड़े पैमाने पर आदिवासी समूहों को उनकी जमीनों से खदेड़ना शुरू किया। विस्थापन के विरोध में आंदोलन भी चलाए गए। विकास परियोजनाओं

विशेष रूप से बांध निर्माण से आदिवासी जनजाति और ग्रामीण वर्ग एक बिखराव के दौर से गुजरने के लिए मजबूर हो गया। रामचंद्र गुहा अपनी पुस्तक 'भारत: गांधी के बाद' में लिखते हैं,

> एक आधुनिक तकनीक जिस पर गांधीवादियों को कड़ी आपत्ति थी वो थी बड़े 'बांधों का निर्माण'। वे उन्हें खर्चीला और प्रकृति विनाशक मानते थे। लेकिन हिंदुस्तानियों को धीरे-धीरे महसूस हो रहा था कि बड़े बांध मानव समुदाय का भी विनाश कर रहे थे। पचास के दशक की शुरुआत में बड़े बांधों द्वारा विस्थापित लोगों की तकलीफों के बारे में ख़बरें आने लगीं।[16]

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय संदर्भ में 'विस्थापन' का रूप तब सामने आया जब 1952 में हीराकुंड प्राधिकरण द्वारा उससे डूबने वाले 150 गांवों को खाली करने का नोटिस दिया गया। जिसका बाद में भारी विरोध हुआ। हीराकुंड बांध से पर्यावरण को भी काफ़ी नुकसान पहुँचा है। सरदार सरोवर बांध का भी उदाहरण लिया जा सकता है। बांध परियोजना के संदर्भ में नर्मदा बचाओ आंदोलन की प्रणेता मेधा पाटकर के अनुसार, "विस्थापितों में लगभग आधी आबादी गरीबों और आदिवासियों की है, जिसने विस्थापन की सबसे ज्यादा कीमत चुकाई और फायदे के नाम पर अपने घर और समाज से विस्थापित हो गए।"[17] परिणाम यह हुआ कि गरीब और गरीब होता गया। नियोजित विकास का यह क्रम कमोवेश 1990 तक इसी प्रकार चलता रहा।

तटीय क्षेत्रों की यदि बात करें तो 1970 में कम गहरे पानी वाली जगहों में गहरे पानी के ट्रालरों को लाने की मंजूरी ने हजारों मछुआरों से उनकी आजीविका को छीन लिया। मैंगलोर पोर्ट से 1960 में जो मछुआरे विस्थापित हुए उन्हें 1980 के दशक में कोंकण रेलवे योजना के तहत पुनः विस्थापित होना पड़ा। इसी क्रम में देश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की यदि बात करें तो बीते कुछ दशकों से यह जातीय संघर्ष को झेल रहा है। असम में बाहरी लोगों के आगमन के खिलाफ़ जारी

---

[16]रामचंद्र गुहा, *भारत गांधी के बाद*, पृ. 279

[17]प्रतिमान: समय समाज संस्कृति, जनवरी-जून 2015, पृ. 223

आंदोलन यह बताता है कि 1979 से 1985 के मध्य एक लाख से ज्यादा लोग विस्थापित हुए। इसी प्रकार त्रिपुरा में 1980 में हुए संघर्ष में हजारों लोग मारे गए और लाखों की संख्या में विस्थापित हुए। मणिपुर में कुकी-पैतेई तथा नागा-कुकी संघर्ष को देखें तो 1990 के आस-पास कई घरों को जला दिया गया, हजारों की संख्या में लोगों को मारा गया। हजारों की संख्या में लोग विस्थापित भी हुए। असम के करबी आंगलोंग जिलों तथा पहाड़ियों में हुई सांप्रदायिक हिंसा के कारण लोगों को विस्थापित होना पड़ा। 1989-1990 के मध्य कश्मीर घाटी में पैदा हुए हालात के चलते बड़ी संख्या में कश्मीरी हिंदू अपना परिवार और घर छोड़ने के लिए विवश हुए। चरमपंथी संगठन ने ऐसी परिस्थितियां निर्मित की जिससे बड़ी संख्या में लोगों का विस्थापन हुआ। देश में सर्वाधिक आंतरिक विस्थापन उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, तमिलनाडु और उत्तराखंड में हुआ है।

ब्रिटिश काल में लोगों को जब बंधुआ मजदूर बनाकर भारत से फीजी, त्रीडीनाद, मॉरिशस आदि स्थानों पर भेजा जाता था तब इस पूरी व्यवस्था की सबसे बड़ी त्रासदी यह थी कि इस व्यवस्था में लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रलोभन भी दिए जाते थे। बेहतर सुविधाओं के सपने दिखाए जाते थे, जिसके कारण लोग उज्जवल भविष्य के सपने संजोए हुए अपनी इच्छा से जाने को तैयार हो जाते थे हालांकि इन सपनों के विपरीत उन्हें प्रताड़ना के अलवा कुछ नहीं मिलता था, कुछ ऐसे भी किसान थे जिन्हें जबरन बंधुआ बनाकर भेजा जाता था। विचारणीय प्रश्न यह है कि बंधुआ मजदूरी की समस्या आज के समय में भी जीवंत और सशक्त है। इसका सबसे बड़ा कारण है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में किसान धीरे-धीरे मजदूर में परिवर्तित होता जा रहा है।

शहरीकरण और औद्योगीकरण ने किसानों को मजदूर व्यवस्था की ओर प्रव्रजन करने पर मजबूर किया। जैसे-जैसे विकास प्रणाली के अंतर्गत नयी-नयी योजनाएं बन रही हैं, उनके निर्माण

कार्य के लिए मजदूरों की संख्या भी बढ़ रही है। इस कुप्रथा के कुछ अवशेष ईंट-भट्टों, होटलों, छोटे कारखानों में भी देखने को मिल जाते हैं। इन्हीं समस्याओं के निवारण के लिए सरकार द्वारा,

> "बंधुआ श्रमिकों के पुनर्वास को अधिक सक्षम तथा प्रभावकारी बनाने हेतु 17 मई, 2016 को सरकार द्वारा 'बंधुआ मजदूर पुनर्वास योजना' की घोषणा भी की गयी है। इसके अंतर्गत बंधुआ मजदूर योजना को केंद्रीय योजना में परिवर्तित करते हुए इसके तहत मिलने वाले लाभों में भी वृद्धि की गयी है।"[18]

आज यदि कहीं परिवर्तन आया है तो सिर्फ शब्दावली में। उदाहरणत:, ठेके पर काम करना भी एक प्रकार की बंधुआ मजदूरी ही है। कॉरपोरेट जगत में भी एक नियत कालावधि के लिए कॉन्ट्रैक्ट आधारित नौकरी में अपने नियोक्ता के बंधुआ बनते हुए कई पढ़े-लिखे वर्ग मिल जाएंगें। एक दूसरा वर्ग है, जो महानगरों में काम करने वाली घरेलू नौकरानियों का है। गरीबी और भूख के साथ-साथ विकास परियोजनाओं के चलते विस्थापित हो रहे छत्तीसगढ़ और झारखण्ड के आदिवासी रोजी-रोटी के लिए इधर-उधर भटक रहे हैं। ऐसे में आदिवासी लड़कियों को श्रम-दलाल महानगरों की ओर लाते हैं। इनकी स्थिति बंधुआ मजदूरों से भी ज्यादा दयनीय है क्योंकि इन्हें यौन शोषण के साथ दोहरी प्रताड़ना से गुजरना पड़ता है। वर्तमान समय में प्रश्न यह नहीं है कि प्रव्रजन क्यों हो रहा है? बल्कि प्रश्न यह है कि प्रव्रजन क्यों न हो? विकास और आर्थिक प्रगति के बावजूद भी भारत में बुनियादी सुविधाओं और रोजगार का परिदृश्य धुंधला नजर आ रहा है

[18] सम-सामयिक घटना चक्र,www.ssgc.p.com/2016

1.3 हिंदी उपन्यासों की विकास-यात्रा

साहित्यिक विधाओं के परिवर्तन और विकास में समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रकारांतर से ही साहित्य ने जन-जन तक जाकर विभिन्न विचारधाराओं को प्रवाहित किया है। जैसे सामाजिक परिवर्तन से साहित्यिक रूपों का विकास होता है ठीक वैसे ही इन रूपों के साथ-साथ विचारधाराएं भी परिवर्तित होती चली जाती हैं। हिंदी साहित्य का परिवेश भी बदलाव के अनेक परिदृश्यों को अपने अंदर समेटे हुए है। प्रारम्भ में महाकाव्य ही देश की सभ्यता और संस्कृति की अभिव्यक्ति का प्रबल माध्यम था, जिसका प्रारम्भ सामंती समाज से पूर्व जनपदीय समाजों में हुआ था। इन महाकाव्यों के कथानक अपने-अपने देश के राष्ट्रीय इतिहास पर आधृत थे, साथ ही साथ जातीय मिथकों का भी खूब प्रयोग होता था। महाकाव्य के नायक भी अभिजात्य वर्ग से संबंधित होते थे। नायक या तो वीर योद्धा होता था या राजा महाराजा आदि धीरोदात्त पात्र। हमारे यहां 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे विशाल महाकाव्य लिखे गए। इन्हें परवर्ती महाकाव्यों का स्रोत भी कहा जाता है। हिंदी का आरंभिक महाकाव्य चन्दबरदाई कृत 'पृथ्वीराजराज रासो' है इसमें प्रथम बार मानव जीवन की संघर्ष गाथा चित्रित हुई। *पद्मावत, रामचरितमानस, साकेत, कामायनी, प्रियप्रवास* आदि प्रमुख महाकाव्य हैं। देश में जैसे-जैसे परिवर्तन हुआ, सामाजिक परिस्थितियां बदली। सामंतशाही का अंत हुआ और एक नयी व्यवस्था से हमारा परिचय हुआ। सामंती समाज-व्यवस्था के अंत के साथ दुनिया भर में महाकाव्यों का युग समाप्त होता दिखाई देता है।

महाकाव्य एक स्तर पर अपने समय और समाज के मनुष्य की स्थिति और नियति को दिखाने का प्रयत्न करते थे। आधुनिक काल में यह काम उपन्यास के माध्यम से होने लगा, इसलिए उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य भी कहा जाता है। साहित्यिक विधाओं के अंतर्गत उपन्यास की उत्पत्ति भी आधुनिक काल के यथार्थवादी परिवेश की ही एक अनुगूंज है।

उपन्यास मूलतः पूंजीवादी सभ्यता की ही देन है। इस सभ्यता के विभिन्न जीवन सत्यों को कथा के माध्यम से व्यक्त करने के लिए ही इसकी उत्पत्ति हुई है। उपन्यास का फ़लक बड़ा होने के कारण इसमें सारी विधाओं को सन्निहित करने की शक्ति निहित होती है। प्रेमचंद के पूर्व हिंदी उपन्यास में दो प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं- मनोरंजन प्रमुख, मनोरंजन और सुधारवादी। कुछ विचारकों ने महाभारत, गाथाओं, रामायण और वेद आदि को उपन्यास की आधारभूमि के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त कुछ आलोचक पश्चिमी उपन्यासों से भारतीय उपन्यासों का मूल स्रोत स्वीकार करते हैं।

प्रेमचंद से पूर्व उपन्यासों में प्राचीन कथा-सूत्र के तत्व मिलते हैं जिनके माध्यम से ही सामाजिक जागृति को भी अभिव्यक्त किया गया है। इन उपन्यासों की विशेषता 'घटनाप्रधान' रही है। इनके कथानकों में मनोरंजन, उपदेश, जासूसी, तिलस्मी आदि की प्रमुखता रही है। प्रेमचंद के आगमन से उपन्यास के क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात होता है। हालांकि इससे पूर्व जो भी उपन्यास लिखे गए, मनोरंजन और उपदेश देना ही इनका एकमात्र ध्येय था। भारतेंदु युग के लेखक अपने देशकाल और वातावरण के प्रति अत्यधिक जागरुक थे, इन्होंने एक ओर राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक विकृत्तियों को चित्रित कर उनका समाधान खोजना चाहा, तो वहीं दूसरी ओर गौरवशाली अतीत की याद दिलाकर जनसामान्य को उच्चता की भाव-भूमि से अभिभूत कराया। इसलिए तत्कालीन यथार्थ और ऐतिहासिक दोनों प्रकार की कृतियां हमें इस काल में दिखाई देती हैं। स्वयं भारतेंदु ने दो उपन्यासों की रचना की है- *चंद्रप्रकाश* और *पूर्णप्रभा*। जोकि सामाजिक उपन्यास की कोटि में रखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त *भाग्यवती, नूतन ब्रह्मचारी, निस्सहाय हिन्दू, परीक्षा गुरु, भाग्यवती* आदि का नाम अग्रगण्य है। ये सभी उपन्यास भी सोद्देश्य हैं।

प्रेमचंद ने उपन्यास के क्षेत्र, स्वरूप और उद्देश्य की पहचान करते हुए पाया कि उपन्यास या कोई भी साहित्यिक विधा मात्र मनोरंजन और उपदेश के लिए नहीं है, अपितु वह मानव-जीवन को शक्ति एवं सुन्दरता प्रदान करने वाली रचना है। प्रेमचंद ने स्वीकार किया, "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"[19] प्रेमचंद ने सामाजिक, राजनीतिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए ग्रामीण जीवन की विडम्बनाओं का चित्रण किया और भारतीय जन-जीवन को लेखन का आधार बनाया। प्रेमचंद की रचनाशीलता का युग राष्ट्रीय और सामाजिक उथल-पुथल का युग था। दो संस्कृतियों की टकराहट का समय था। देश ब्रिटिश राज्य की गुलामी से मुक्त होने के लिए तड़प रहा था। सामाजिक क्षेत्र में भी कई वर्गों में आपसी टकराहट निरंतर दिखाई दे रही थी। एक ओर जहां जमींदारी और सामन्तवादी शक्तियां धीरे-धीरे क्षीण हो रही थीं, तो वहीं दूसरी ओर देश में एक नए वर्ग का भी उदय हो रहा था।

पूंजीवादी सभ्यता का एक प्रारम्भिक रूप महाजनी सभ्यता गांवों से लेकर शहरों तक अपना कदम बढ़ा रही थी, इसी के साथ मजदूर भी एक वर्ग के रूप में उभरकर सामने आया। पूंजीवादी सभ्यता में बाज़ार केंद्र में था। जहां स्पर्धा का भाव मुख्य रूप से विद्यमान था। पूंजीपति मजदूरों के श्रम से अधिक से अधिक मुनाफा कमाना चाहते थे, दूसरी ओर मजदूर वर्ग अपना श्रम बेचकर समृद्ध जीवनयापन की लालसा का स्वप्न देख रहा था। इन दोनों परिस्थितियों के बीच 'तनाव' का जन्म हुआ। जिसके फलस्वरूप देश में हड़तालें और सभाएं होना शुरू हुई। जहां एक ओर मिल-कारखानों के मजदूर थे, तो दूसरी ओर खेतिहर किसान। इन दो वर्गों के अतिरिक्त मध्यवर्ग का भी जन्म हुआ। मध्यवर्ग की भी अपनी अलग समस्याएं थीं। उसकी आर्थिक स्थिति भीतर से खोखली थी, परन्तु फिर भी वह मिथ्या प्रदर्शन के जाल में फंसा हुआ था। प्रेमचंद ने इस

[19]रामदरश मिश्र, *हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा*, पृ. 30.

संक्रमण को भली-भांति पहचाना। उन्होंने समस्याओं को उनके सही रूप में देखा। परिणामस्वरूप सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक यथार्थ इनके उपन्यासों के केंद्र बने। उभरते हुए औद्योगीकरण के स्वरुप और प्रभाव को प्रेमचंद अपने उपन्यासों में दिखाते हैं। इनके उपन्यासों के नायक कोई धीरोदात्त पात्र नहीं अपितु एक सामान्य मनुष्य है और किसान है। वह किसान जो अपने समस्त गुण और दोष, अभाव और शक्ति के साथ भारत का सच्चा किसान है। प्रेमचंद दुर्दशाग्रस्त गांव की कथा कहने के साथ-साथ शहरी जीवन पर भी अपनी कलम चलाते हैं। ऐसे विपरीत समय में यदि उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद का पदार्पण नहीं होता तो संभवतः उपन्यास का केंद्र मनोरंजन और उपदेशात्मक शैली के गलियारों में ही घूमता रहता।

प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासकारों, मसलन चतुरसेन शास्त्री, वृन्दालाल वर्मा, विश्वम्भरनाथ कौशिक, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उषादेवी मित्रा आदि रचनाकारों ने भी सामाजिक जीवन का चित्रण किया। प्रेमचंदोत्तर युग के लेखक नवीन भाव-बोध के साथ साहित्य लेखन में पदार्पण करते हैं। इस युग में कथा, घटना, भाव, भाषा आदि से संबंधित अनेक परिवर्तन दिखाई देते हैं। मनोविश्लेषणवादी, आंचलिक, प्रगतिवादी आदि विषयों को आधार बनाकर उपन्यासों की रचना होती है। इस युग में ऐसे उपन्यासकार भी उपस्थित थे, जिनका साहित्यिक अवदान प्रेमचंद युग से ही कायम रहा। सन् सैंतालिस के समय जब देश आज़ाद हुआ तो विभाजन की एक अपूर्व त्रासदी घटित हुई। जिसने साम्प्रदायिक दंगों को जन्म दिया, बड़ी संख्या में लोग अपनी जमीन से विस्थापित हुए। इस विभाजन की त्रासदी ने न सिर्फ भारत को दो भागों में विभाजित किया अपितु सांप्रदायिक और अलगाव की न पटने वाली ऐसी खाई को जन्म दिया जिसने मनुष्य को हिंसक बना दिया। विभाजन की इस त्रासदी की जटिलता को लेखकों ने कहानियों, उपन्यासों, कविताओं आदि के माध्यम से अभिव्यक्त किया। दूसरी ओर जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि के द्वारा

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना की जा रही थी। समकालीन चिंतनधाराओं प्रगतिवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद और गांधीवाद का प्रभाव स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों पर पड़ रहा था।

हिंदी साहित्य में उपन्यासों की अपनी एक अलग परम्परा रही है। वह अपनी एक नयी भूमिका हमेशा निर्मित करता रहा है। चाहे वह प्रेमचंद का समय हो या उनके बाद का। कोई अंचल विशेष की मिट्टी में रचा-बसा है तो कोई राजनीति की राजनीति को तोड़ता हुआ, तो कोई स्त्री चिन्तन को दर्शता हुआ, तो कोई भारत की किसी समस्या को दर्शाता हुआ। इन सबका अपना एक विशेष दायरा रहा है जो इन्हें सर्व समावेशी समाज के जीवंत दस्तावेजों के रूप में स्थापित करता है। उपन्यास ने एक प्रकार से इतिहास लेखन का दायित्व भी निभाया है जिससे भारतीय समाज की संरचना में कुछ उथल-पुथल पैदा हुई है। राष्ट्रीय आंदोलन की स्मृतियां, समाज में व्याप्त रूढ़ियां, क्रांतिकारी विरासतें,विभिन्न विचारधाराएं, सामन्ती समाज का चित्रण, हिन्दू-मुस्लिम संबंध, धार्मिक अतिवाद, राजनीति का जन-विरोधी रूप आदि घटनाएं और समस्याएं उपन्यास के केंद्र में रहीं हैं। उपन्यास की एक परम्परा ऐतिहासिक इतिवृत्त को भी आधार बनाकर चली है। विजय बहादुर सिंह ने लिखा है,

> समकालीन हिंदी भाषी समाज, बृहत्तर अर्थ में समूचा भारतीय समाज जिन सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मुश्किलों के बीच फंसा है, उपन्यास उन्हें तरह-तरह से समझने और अपने पाठकों के बिखर से उठे, लगभग संभ्रमित और आत्मबेसुध से हो चुके चित्त को खोजने और पुनःस्थापित करने में जी-जान से लगा हुआ है।[20]

विश्व अर्थव्यवस्था के साथ-साथ भूमंडलीकरण ने साहित्य-जगत को भी प्रभावित किया है। भूमंडलीकरण का प्रभाव हमें हिंदी उपन्यासों में दिखाई देता है तो वहीं उसके सम्पूर्ण प्रतिरोध और विकल्प के रूप में अधिकांश उपन्यास प्रतिरोध का सही नजरिया अपनाकर भूमंडलीकरण के विरूद्ध जन अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर साहित्य के जनतंत्र की रचना कर रहा है।

[20]विजय बहादुर सिंह, *उपन्यास समय और संवेदना*, पृ. 18.

भूमंडलीकरण के इस दौर ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है- आदिवासी विमर्श, विस्थापन समस्या, स्त्री विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, साम्प्रदायिक संकीर्णता आदि। उपन्यास विधा में विहत वर्षों में तेजी से परिवर्तन आया है। जहां एक ओर उपन्यास ने एक समय पर 'ऐतिहासिकता' को आधार बनाया था, वहीं समकालीन समय में 'तात्कालिकता' का प्रवेश उपन्यास में होता दिखाई देता है। वर्तमान समय उपन्यास की चिंता का केन्द्रीय विषय बनकर उभरता है। बाबरी मस्जिद प्रकरण, गुजरात नरसंहार, साम्प्रदायिकता, कश्मीर की समस्या, भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, प्रव्रजन, विस्थापन आदि उपन्यास के केंद्र में रहे। उपर्युक्त समस्याओं के चित्रण को उपन्यास के एक नवीन प्रस्थान बिंदु के रूप में देखा जा सकता है।

उपन्यास की सैद्धांतिकी पर भी विचारकों के अलग-अलग मत रहे हैं। नयी आलोचना दृष्टि के अंतर्गत उपन्यासकारों का मानना है कि वे किसी भी सैद्धांतिकी का अध्ययन किए बिना उपन्यास रचना में प्रवृत्त होते हैं और यथार्थ को ग्रहण कर उसका पुनर्सृजन करते हैं। निर्मल वर्मा ने अपने एक भाषण में उपन्यास की अवधारणा पर विचार करते हुए इस बात पर बल दिया था,

> हमें पाश्चात्य विद्वानों के उपकरणों के आधार पर हिंदी उपन्यास के यथार्थ का परीक्षण नहीं करना चाहिए अपितु उसके लिए अपनी ही उपन्यास-परम्परा का दोहन करना होगा। हम अक्सर पश्चिमी उपन्यास में होने वाले मूलभूत परिवर्तनों की चर्चा करते हैं, काफ्का, जॉयस, म्युजिल ऐसे नाम हैं जो अनायास याद आते हैं, किंतु इस बात पर बहुत कम ध्यान दिया गया है कि खड़ी बोली के संक्षिप्त इतिहास में हिंदी कहानी और उपन्यास ने इतने कम समय में जो अप्रत्याशित मोड़ लिए हैं, वे न केवल भारतीय भाषाओं में बल्कि यूरोपीय उपन्यास के संदर्भ में भी दुर्लभ दिखाई देते हैं।[21]

सत्तर के दशक के बाद से हिंदी उपन्यासों के कथ्य पर एक व्यापक परिवर्तन देखने को मिलता है। नमिता सिंह, कृष्णबलदेव वैद, सुरेन्द्र वर्मा, वीरेंद्र जैन, मनोहर श्याम जोशी, विनोद

[21]पुष्पपाल सिंह, *भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास*, पृ. 123.

कुमार शुक्ल, श्रीलाल शुक्ल, मैत्रयी पुष्पा, दूधनाथ सिंह, रामदरश मिश्र, मिथिलेश्वर आदि लेखकों ने नए आधुनिक बोध और मूल्य चेतना पर उपन्यासों की रचना की है। इस दौर के उपन्यासों को पढ़ते हुए दृष्टि और अंतर्वस्तु दोनों के बदलाव का बोध होता है। कथा साहित्य का अपने समय और समाज से सदैव जीवंत संबंध रहा है। भूमंडलीकरण के इस दौर में हिंदी उपन्यासकारों ने उपन्यास के लोकतान्त्रिक रूप को अधिक समृद्ध और विकसित किया। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था से जूझते हुए भारतीय जन की महागाथा प्रस्तुत की और इनके पीछे भी नयी व्यवस्था के निर्माण की रचनात्मक आकांक्षा भी है।

1.4 हिंदी उपन्यासों का चुनाव-

उपन्यास में समय व समाज की गतिविधियों को अभिव्यक्त करने के अवसर जितने अधिक होते हैं संभवत: उतने किसी और विधा में नहीं। उपन्यास में प्रयोगधर्मिता की संभावना अधिक होती है। वास्तविकता का प्रतिपादन करने में उपन्यास विधा विस्तृत, गहन व पैनी होती है। उपन्यास यथार्थ को नई दृष्टि से विश्लेषित करता है। 21वीं सदी के समाज की विभिन्नताओं, विषमताओं, विसंगतियों, समस्याओं व आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास प्रभावशाली विधा के रूप में उभरा है। भारतीय समाज की समस्याओं व संकटों से हिन्दी की रचनाशीलता प्रभावित हो रही है। भूमंडलीकरण की शुरुआत में लिखे गए उपन्यासों में इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। जब भारत मौजूदा आर्थिक और राजनीतिक नेतृत्व व भूमंडलीकरण के समक्ष समर्पण की नीति पर चल रहा हो उस समय प्रतिरोधी संस्कृति और साहित्य से ही यह आशा की जा सकती है। भूमंडलीकरण के समय में विभिन्न मुद्दों को आधार बनाकर साहित्य लिखा जा रहा है, ये मुद्दे हैं- आदिवासी विमर्श और विस्थापन, दलित विमर्श,

स्त्री विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, धार्मिक और सांप्रदायिकता आदि। दमित अस्मिताएं और उनकी लोकतान्त्रिक मांगों, उपभोक्तावादी अपसंस्कृति, मध्यवर्गीय जीवन की विद्रूपता, जनजीवन की तबाही, उत्पीड़न आदि को रेखांकित किया गया है।

उपन्यास मानव समाज के परिवर्तनशील जीवन का जीवन्त चित्र होता है। समकालीन यथार्थवादी लेखन के लिए उपन्यास सबसे उपयुक्त विधा है। यथार्थवादी उपन्यासकार भौतिक जगत की सत्ता को स्वीकार करता है उसी के अनुरूप साहित्य की रचना करने लगता है। समाज को समझने का दृष्टिकोण ही यथार्थवाद की पृष्ठभूमि तैयार करता है। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "किसी रचनाकार की चिन्ता का मुख्य विषय जीवन का यथार्थ है व जीवन का यथार्थ बहुआयामी होता है। रचनाकाल में रचनाकार की चेतना के ऊपरी स्तर व भीतरी अन्तर्दृष्टि में द्वन्द्व होता है। अन्तर्दृष्टि की विजय में यथार्थवाद की विजय निहित होती है।"[22] रचना में जीवन-जगत के यथार्थ के प्रति रचनाकार की संवेदनशीलता प्रकट होती है। उपन्यास रचना में यथार्थ की अभिव्यक्ति समष्टिपरक होती है। हिंदी के उपन्यासकारों के समक्ष एक आदर्श था, जिसकी पृष्ठभूमि यथार्थमूलक थी। उपन्यास विधा अपने मूल चरित्र में भारतीय समाज की रूढ़िवादी परंपरागत व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध का रुख अपनाती हुई जन्मी, पली व बड़ी हुई तथा समाज के तमाम सवालों को अपनी रचनात्मकता में जगह देती हुई, उसे उठाती हुई आज समाज के छूटे हुए, हाशिए पर पड़े हुए, अलक्षित प्रश्नों को उठाती हुई आगे बढ़ रही है।

उपन्यास लेखन में अस्सी से नब्बे का दशक एक नयी सुगबुगाहट का समय था। इस दौर में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिससे तीव्र गति से समाज में परिवर्तन हुआ। मसलन, आपातकाल, कांग्रेस के वर्चस्व का अंत, पिछड़े वर्गों का उदय, महिलाओं द्वारा अधिकारों की मांग, उपभोगतावाद का उदय, आर्थिक उदारीकरण, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का उदय आदि। ऐसे समय में

[22]मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ. 134.

नए समाज को समझने और जानने के लिए एक नवीन दृष्टिकोण और भाषा की आवश्यकता थी। राजेन्द्र यादव अपने सम्पादकीय में लिखते हैं,

> उपन्यासकार के सामने सबसे बड़ी चुनौती सदा यही रहेगी कि वह किस तरह अपने समय को अभिव्यक्त करता है न कि डिस्ट्रिक्ट गजेटियरों के माध्यम से निम्नवर्गीय ऐतिहासिक चिंताओं से जूझता रहता है या पौराणिक सुंदरियों की व्यथाकथा कृत्रिम-तत्सम भाषा में सगणक के पटल पर सर्जित करता है।[23]

उपन्यास अपने पाठकों को तत्कालीन समाज की शक्ति और कमजोरियों से परिचित करवाता है। साथ ही साथ वह उपन्यास में ऐसी विचार-क्षमता पैदा करने का प्रयास करता है जिससे वह पाठक और समाज के मध्य अंत:संबंध कायम कर सके। इसलिए उपन्यास और इतिहास दोनों ही पाठक के अंत:करण में हलचल पैदा करते हैं और उसे नए विचार ग्रहण करने के लिए भी प्रेरित करते हैं। उपन्यास में निर्धन, शोषित और हाशिए में पड़ा कोई भी व्यक्ति महत्वपूर्ण हो सकता है। उपन्यास में यह आवश्यक नहीं कि उसके पात्र व्याकरणसम्मत भाषा का प्रयोग करें और एक बनी बनाई परिपाटी पर ही चलें। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उपन्यास को किस प्रकार आमजन की ऊर्जा का वाहक बनाया जा सकता है। उपन्यास जीवन की गतिशीलता को जानने का एक माध्यम है।

विषय की गहराई को विस्तृत रूप से समझने के लिए शोध-प्रबंध में कुछ उपन्यासों का चुनाव किया गया है जो इस प्रकार हैं-

- शिगाफ (मनीषा कुलश्रेष्ठ)
- निर्वासन (अखिलेश)
- जानकीदास तेजपाल मैनशन (अलका सरावगी)
- ग्लोबल गांव के देवता (रणेंद्र)

[23] हंस, जनवरी, 1999, पृ. 7. सम्पादकीय।

- गायब होता देश (रणेंद्र)
- दौड़ (ममता कालिया)
- डूब (वीरेंद्र जैन)
- पार (वीरेंद्र जैन)
- देश निकाला (धीरेन्द्र अस्थाना)
- एक ब्रेक के बाद (अलका सरावगी)

1.5 संबंधित विषय पर हुए शोध कार्य

जहां तक मेरा अध्ययन है, 'भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी उपन्यासों में विस्थापन और प्रव्रजन की समस्या' को लेकर अभी तक कोई शोध कार्य नहीं हुआ है। हालांकि इससे संबंधित कुछ शोध कार्य अवश्य हुए हैं। मगध में 1984 में "समकालीन उपन्यासों में निर्वासन की समस्या" विषय पर शोध कार्य हुआ है। जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में दो शोध कार्य हुए हैं। "हिंदी कथा साहित्य में शरणार्थी जीवन: विभाजन के विशेष संदर्भ में" (2007), "हिंदी कथा साहित्य में विस्थापन की समस्या" (2006)। दिल्ली विश्वविद्यालय में भी इस विषय से संबंधित दो शोध कार्य हुए हैं। "विस्थापन की समस्या और मीरा कान्त का नाटक काली बर्फ", स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य में विस्थापन की विडम्बना"। इसके अतिरिक्त एक शोध कार्य गोरखपुर विश्वविद्यालय में हुआ है', जिसका शीर्षक है, "औद्योगीकरण से उत्पन्न विस्थापन की समस्या और हिंदी कथा साहित्य।"

द्वितीय अध्याय

हिंदी के चयनित उपन्यासों की कथाभूमि

2.1 निर्वासन

विस्थापन एक ऐसी समस्या है जो निरंतर घटित होती है और मनुष्य के वातावरण में चारों ओर फैली रहती है। कथाकार अखिलेश का उपन्यास *निर्वासन* विस्थापन की समस्या को लेकर लिखा गया है जिसमें विस्थापन महज भौगोलिक स्तर पर नहीं है अपितु बहुस्तरीय और बहुआयामी है। 25 अध्यायों में विभक्त कर लिखी गयी *निर्वासन* की कहानी मुख्य पात्र 'सूर्यकांत' के इर्द-गिर्द घूमती है। पूरी कहानी मुख्य कहानी के साथ फ्लैश बैक में चलती है। छोटी-छोटी कहानियों को मिलाकर उपन्यास की रचना की गयी है। इस उपन्यास में विस्थापन कई स्तरों पर घटित होता है जैसे- पारिवारिक स्तर पर, यथार्थ के स्तर पर, अनुभव के स्तर पर, भावनाओं के स्तर पर, समाज के स्तर पर आदि। भूमंडलीकरण के समय में निर्वासन ने कितना भयावह रूप धारण किया है, अखिलेश इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। सवा सौ साल पहले भगेलू को अकाल और भुखमरी ने अपनी जमीन से निर्वासित किया। वे अपने देश और परिवार को छोड़ने के लिए अभिशप्त हुए। जीवन और प्रकृति की मार झेलते हुए धोखे से गिरमिटिया मजदूर बनाकर गोंसाईगंज से सूरीनाम पहुंचा दिए गए। उपन्यास में एक कथन आता है जो पूर्वोक्त बात को संदर्भित करता है, "जिस समय बाबा सूरीनाम आए उनके गाँव में भयानक सूखा पड़ा था जो आपस में जुड़े हुए कई जनपदों में मारक रूप से फैला हुआ था।"[24] कई वर्षों बाद हालात यह हैं कि पढ़े-लिखे होने के बाद भी अजोर पाण्डेय अपने देश में रहना नहीं चाहते हैं

---

[24]अखिलेश, *निर्वासन,* पृ. 48.

भूमंडलीकरण के इस दौर में परिवर्तन की गति इतनी तीव्र, मारक व हिंसक रही है कि गांव, शहर, कस्बे, परिवार सभी संरचनाएं इससे बुरी तरह प्रभावित हुई हैं। मसलन- शब्द, भावनाएं, सामाजिक समरसता, पारम्परिक किस्सागोई, मनोरंजन के पारंपरिक तरीके व साधन आदि ऐसी तमाम चीजें हैं जिनकी 'बेदखली' ही इस व्यवस्था में उनकी नियति है। अखिलेश का यह उपन्यास उपर्युक्त बेदखली के तमाम रूपों को हमारे सामने रखता है। इस उपन्यास में लगातार अलग-अलग स्तर पर विस्थापन दिखाई देता है। उपन्यास में दादी अपनी यादों में निर्वासित हैं, वे अपनी उम्र के यथार्थ से निर्वासित हैं। सूर्यकांत विजातीय लड़की से विवाह करने के कारण परिवार से बाहर निकाल दिया गया है, उसे अपना परिवार शहर, घर आदि छोड़ना पड़ता है दूसरी ओर नौकरी में अपनी वैचारिक स्थिति के कारण वह निर्वासित होता है। वहीं उसके चाचा समय के साथ ताल-मेल न बिठा पाने, आधुनिक जीवन की चमक-दमक व संवेदनहीनता को न स्वीकार कर पाने के कारण अपने परिवार और समय से निर्वासित होते हैं।

राम अजोर पांडे अपनी अमीरी से ऊबे हुये हैं, इस कारण वह अपने यथार्थ से निर्वासित हैं और होली की शराब और घुघरी का स्वाद लेना चाहते हैं। एक उदाहरण देखिए जिसमें राम अजोर पांडे कहता है, "मैं बस हौली की शराब पीना चाहता हूँ। शराब के साथ चने की घुघरी खाना चाहता हूँ मैं बाबा से बाद का हूँ और अमीर हूँ तो क्या हुआ, मैं वास्तव में अपने बाबा जैसा हूँ उसी तरह जैसे मैं सूरीनाम में पैदा हुआ लेकिन क्या फर्क पड़ता है, मैं असलियत में...।"[25]

इस कथा का सूत्रधार सूर्यकांत है जिसके सहारे कथा आगे बढ़ती है। अपने विचारों के कारण तंत्र में फिट नहीं बैठने की वजह से वह लगभग अपनी नौकरी से विस्थापित है। वह रोजगार का विकल्प तलाश रहा है इसी दौरान बहुगुणा पत्रकार के माध्यम से उसकी मुलाक़ात राम अजोर पांडे से होती है जो गोंसाईगंज से अकाल, भूख, बीमारी और मौत से पीछा छुड़ाते हुये बदहवास

---

[25]उप. पृ. 62.

धोखे से सूरीनाम पहुँच गए भगेलू पांडे के पोते हैं। राम अजोर पांडे के पास अपार धन है परन्तु कोई भरोसेमंद वारिस उसे नहीं मिलता है, दूसरी ओर अपने पुरखों की खोज उसे ऐसी जगह पहुँचा देती है जो एक तरह से उनके वैभव और आधुनिकता की त्रासद परिणति है। राम अजोर पांडे अपने पुरखों का पता लगाने के लिए यह काम सूर्यकांत को सौंपते हैं। इस काम के कारण सूर्यकांत का लौटकर अपने उस परिवार के पास जाने का संयोग बनता है। इस यात्रा में उसे महसूस होता है कि किस तरह वक़्त की रफ़्तार ने उसके अतीत की तमाम चीजों को, गाँव, परिवार, संबंधों और लोगों की दिलचस्पी को कैसे बदल दिया है। सुल्तानपुर वापस आने पर वह देखता है कि शहर में क्या बदलाव हुये हैं,

> दुकानों की भरमार हो गयी है। सड़के टूटी-फूटी जिनके दोनों ओर दुकानें ही दुकानें जो बड़े-बड़े शोरूमों से लेकर छोटी-छोटी कोठरियों तक फैली हुई थीं। दुकानों के सामने भी पटरी या ठेले पर कोई कुछ बेच रहा था। थाह लेने पर पता चला कि शहर मोबाइल कम्पनियों के विज्ञापनों से रंगा हुआ था। उनके सुन्दर रंगीन, दैत्याकार विज्ञापन, स्कूलों, कचेहरी, अस्पताल, डाकखाना, रेलवे आदि के आमने-सामने मुस्करा रहे थे। इनको टक्कर देने वाला कोई अन्य पदार्थ पृथ्वी पर था तो वह था शीतल पेय।[26]

इस प्रक्रिया में उसका बदले हुए गांव, बदले हुए परिवार और बदली हुई परिस्थितियों से सामना होता है। सूर्यकांत की यात्रा के माध्यम से कथाकार ने गोंसाईगंज का जीवंत और यथार्थ खांका खींचा है।

विस्थापन की समस्या के साथ-साथ कथाकार ने जाति-प्रथा और स्त्रियों की समस्या को बखूबी उठाया है। अखिलेश का यह उपन्यास एक साथ कई प्रश्नों को उठाता है जैसे, बाजारवाद हमारे ऊपर कैसे हावी होता जा रहा है, सत्ता में बैठे लोग कैसे दलाल हो गए हैं, पत्रकारिता कैसे बिकती जा रही है। ये तमाम प्रश्न जगह-जगह उपन्यास में आते हैं और सोचने के लिए मजबूर करते हैं। उपन्यास के सूत्रधार सूर्यकांत और उसके चाचा के बचपन के बहाने इमरजेंसी की

[26]उप. पृ. 199.

बर्बरता और चौरासी के सिख दंगों का भी बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। इसी दंगे की वजह से चाचा का प्यार छिन जाता है और उनका बचा हुआ परिवार भटिंडा छोड़ कर दूसरे शहर चला जाता है जहां वह एक निर्वासन की ज़िंदगी जीने के लिए बाध्य होता है। बाजारवाद के कारण उपन्यास में बदली हुई जिन स्थितियों का कथाकार ने साक्षात्कार कराया है उसे लेकर उपन्यास का हर एक पात्र चिंतित है और जहां बदलाव की जरूरत है वहां किसी की दृष्टि नहीं जा रही है। वरुणा एक्सप्रेस चालीस साल पहले जैसी थी वैसी ही आज भी है। आज भी उसके पंखों को कलम से हिला कर चलाया जाता है।

भूमंडलीकरण और तकनीकी तंत्र की दुनिया में लेखक ने बार-बार गांव-देहात या कस्बों की उन छोटी-छोटी चीजों को पकड़ने की कोशिश की है जिससे इस आभासी दुनिया के आडम्बरों को ध्वस्त किया जा सके। हम आज ऐसे समय में जी रहे हैं जब छोटे-छोटे शहर, कस्बे भी बड़े शहरों की नकल करने में लगे हुये हैं। ऐसे समय में लेखक ने बड़ी बारीकी से इन यथार्थों को हमारे सामने लाने का प्रयास किया है। उपन्यास के दो बुजुर्ग बराबर पाठकों का ध्यान अपनी ओर बार-बार आकर्षित करते हैं कि किस तरह से आज की युवा पीढ़ी उनके प्रति उदासीन है। एक तो गांव गोंसाईगंज के जगदम्बा कुम्हार और सूर्यकांत की दादी। एक दो पात्र किसी एक गाँव या शहर का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं बल्कि भारत के उन तमाम गांवों और शहरों का प्रतिनिधित्व करते हैं जहां बुजुर्गों की दुर्दशा हो रही है। बुजुर्ग अपनी व्यथा को इन शब्दों में कहता है, "अब कहानियां सुनाने के लिए बच्चे उनको घेर कर नहीं बैठते थे, जिद नहीं करते थे, उनका सर दबा कर पैर दाब कर खुशामद नहीं करते थे कहानी सुनाने के लिए। टीवी ने दादी की मांग को, उनकी लोकप्रियता को जीर्ण कर दिया था। इसलिए वह उससे ईर्ष्या करती थीं।"[27]

[27]उप. पृ. 166

इस कथा में लेखक ने ब्रिटिश काल में दुर्भिक्ष से पीड़ित उत्तर प्रदेश के गोंसाईगंज नामक गाँव से प्रव्रजन कर गए एक ऐसे व्यक्ति का आख्यान कहा है जो अपने देश से बहुत दूर जा चुका है। इस उपन्यास में गोंसाईगंज के बहाने अखिलेश ने आज के ग्रामीण परिदृश्य का बड़ा ही यथार्थ वर्णन किया है। प्रेमचन्द के *गोदान*, रेणु के *मैला आँचल* तथा श्रीलाल शुक्ल के *रागदरबारी* के बाद हिंदी उपन्यास जगत में इस तरह के ग्रामीण अंचल से जुड़ा सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक विमर्श हमारे सामने आया है। इस उपन्यास में अखिलेश ने आज के बदले हुए गाँव की बदहाली और व्यथा को तो अपनी कथा में समेटा ही है साथ ही अतीत की व्याख्या भी की है। उपन्यास की महत्वपूर्ण कड़ियाँ राम अजोर पांडे के बहाने खुलती चलती हैं। जब इनके दादा भगेलू को धोखे से गिरमिटिया बनाकर फैजाबाद से सूरीनाम ले जाया जा रहा था तो उन्होंने यहां से जाते समय अपना नाम भगेलू पांडे बताया था, इसलिए सूरीनाम में ये पांडे के नाम से ही जाने जाते थे। इनकी पूरी जिन्दगी इस आशा में बीत गयी कि वे अपने गाँव एक दिन जरुर लौटेंगे, परन्तु उनकी यह आशा पूरी न हो सकी। अब उनकी यह आशा उनके पोते राम अजोर पांडे पूरा करना चाहते हैं। जब वे अपने पुरखों को ढूँढने का कार्य सूर्यकांत को सौंपते हैं तो इस पूरी प्रक्रिया में ऐसे यथार्थ सामने आते हैं जिससे पता चलता है कि वर्तमान समय में मनुष्य अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत करने के लिए सबसे अधिक लालायित है।

भूमंडलीकरण के इस दौर ने उसे पूंजी का स्वप्न सर्वाधिक दिखलाया है। सूर्यकांत जब राम अजोर पांडे के पुरखों का पता लगाने के लिए गोंसईगंज जाता है तो सबसे बड़ी समस्या उसके सामने यह आती है कि पूरा का पूरा गांव अपने को अमरीका पांडे से जोड़ रहा है। सभी एक स्वर में चिल्ला रहे हैं कि हम ही हैं पांडे के असली के वारिस। शायद अमरीका पांडे में लोग अपनी दरिद्रता का अंत खोज रहें हैं। उदाहरण, "अमरीका पाण्डेय से कह दो जाकर/अपने वंश को देखे आकर। अमरीका तुम संघर्ष करो हम तुम्हारे साथ हैं। पाण्डेय जी की आंधी आई/अमरीका

भारत भाई-भाई। अमरीका पाण्डेय जल्दी आओ/आकर हमको गले लगाओ।"[28] पर वास्तव में जिन्हें अमरीका पांडे की जरूरत है या जो असली वारिस हैं वो नीम की नीचे पड़ी खटिया पर लेटकर पाद रहे हैं। लेखक ने सही ही कहा है कि नगण्य लोगों को छोड़ दिया जाए तो आज सभी अमरीका से नाता जोड़ने के लिए आतुर हैं।

शहर के तथाकथित सीधे-साधे लोग हों या परम्परा-आधुनिकता के बीच में झूलते लोग, अमेरिका प्रेम सबका देखने लायक है। आज समाज में तमाम जिंदगियां एक साथ रहते हुये भी निर्वासन का दंश झेल रही हैं। वजह साफ़ है, अपनी जमीन और जड़ से लोगों का प्रव्रजन। हर जगह दिखावा, खाने से लेकर सोने तक। कथाकार ने भारत की आज़ादी के कई दशक पहले से लेकर वर्तमान समय तक के लगभग डेढ़ सौ बरस के राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य को आधार बनाकर विश्व के विशेष रूप से भारत की सामाजिक रूढ़ियों व कुरीतियों, राजनैतिक पतन, नीतिगत विसंगतियों, भ्रष्टाचार व नैतिक पतन की शिकार शासकीय प्रणाली व प्रशासनिक मशीनरी आदि का एक ऐसा खाका खींचा हैं, जिससे उसका असली चेहरा उजागर होता है।

उपन्यास में निर्वासित पात्रों के चारों तरफ दिखने वाले जो परिवारजन, मित्र, सहयोगी या अन्य लोग हैं, उनके सामाजिक सरोकारों, पक्षधरताओं, विचारों तथा स्वार्थ से भरी प्रवृत्तियों को भी कथाकार ने बखूबी चित्रित करते हुए उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। सूर्यकांत की पत्नी गौरी को पति व बेटे से अनन्य प्रेम है, किन्तु सूर्यकांत के वापस अपने अतीत से जुड़ जाने की आशंका से उसे यह भय भी होता है कि कहीं वह उसे खो न दे। उसका मित्र बहुगुणा चालाक किस्म का पत्रकार है, किंतु सूर्यकांत की मदद वह निष्ठा के साथ करता है। अमरीका से आया पांडे अपनी जड़ों से जुड़ना चाहता है, लेकिन अपने कारोबारी हितों को बिना कोई नुकसान पहुंचाए और इसी के चलते वह एक बहुत बड़ी परियोजना में धन लगाकर सरकार में तुरंत अपनी पैठ बना

[28]उप. पृ. 292.

लेता है। सरकारी पर्यटन निगम का मुखिया संपूर्णानंद 'बृहस्पति' एक रूढ़िवादी, सत्ता लोलुप एक मक्कार किस्म का राजनेता है जो अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी कर सकता है। सूर्यकांत की बहन नुपूर व बहनोई देवदत्त तेंदुलकर परस्पर प्रगाढ़ प्रेम करने वाले हैं, किंतु पैसा कमाने के लिए घर से उजड़ कर अमरीका जाने के लिए बैचैन हैं। उसका भाई शिब्बू व उसकी पत्नी कामना भी कुछ ऐसी ही सोच रखते हैं। सूर्यकांत के चाचा बड़े ही विचारशील किन्तु एक असफल प्रेमी हैं। वे जीवन से समझौता तो कर लेते हैं किन्तु स्वार्थी बीवी और बच्चों के रंग-ढंग से विक्षिप्त होकर आत्मनिर्वासन को अपनाते हुए घर के पीछे वाले कमरे में अपनी अलग दुनिया रमा लेते हैं और वह भी समाज के हाथों से फिसलती जा रही तमाम चीजों व छीजते जा रहे विचारों को समेटकर।

उपन्यास के कथानक में अखिलेश ने जगह-जगह हमारे चारों तरफ बढ़ते जा रहे इस मनुष्यजनित विस्थापन की विवेचना को खूबसूरती से पिरोया है। चाचा को नये से परहेज नहीं है। वे ऐसे समाज में रहना चाहते थे जहां नए-पुराने दोनों की सुन्दरताएं एक-दूसरे को मजबूती देती हों, लेकिन ऐसी जगह कहीं मिली नहीं। उन्हें यह देखकर दुःख होता है कि न्याय, स्वास्थ्य, शिक्षा, राजनीति जैसी चीजें जो समाज को सुन्दर बनाने के लिए रची गयीं हैं, वे ही इंसान को आज सबसे ज्यादा डरा रही हैं। उनका मानना है कि सुन्दरता तभी जन्म लेती है जब उसमें इंसान, पशु-पक्षी किसी का भी जीवन भीतर से खुशी पाए। ये राष्ट्रीय राजमार्ग जो करोड़ों वृक्षों का वध करके बने हैं, खूबसूरत कैसे हो सकते हैं? ये औद्योगिक विकास के उपक्रम जो किसानों की जमीन छीनकर तैयार हो रहे हैं, ये बांध, ये बिजली परियोजनाएं, जो इलाके की पूरी-पूरी आबादी को बेघर, विस्थापित करके प्रकट हो रही है, सुन्दर कैसे हो सकती है? आज जो जितना ही समर्थ है उतना ही हिंसक है और जो जितना ही ताकतवर है, वह उतना ही असहिष्णु।

उपन्यास में कथाकार ने उस समय की ऐतिहासिक सच्चाई को हमारे सामने रखा है जिसने लोगों को गिरमिटिया बनने पर मजबूर किया। प्रायः उच्च घरों के लोग भी शिक्षा या काम की

तलाश में अपनी जड़ों से दूर जाया करते थे वे आज भी ऐसा ही करते हैं। उपनिवेशकाल में विस्थापन की पड़ताल करते हुए अखिलेश लिखते हैं,

> जब अकाल पड़ा था तब सवर्ण जातियों, जिनके अनेक लोग अपने को आपके बाबा के कुल का दीपक बता रहें हैं, से कोई भी गाँव गोंसाईगंज से विस्थापित नहीं हुआ था। काम-धंधा या रोजगार के चक्कर में फैज़ाबाद या पास के किसी दूसरे शहर में तक नहीं गया था। उस दौर में विस्थापन करने वाले अधिसंख्य लोग पिछड़ी जातियों के थे।[29]

इस प्रकार यह उपन्यास अपनी समग्रता में अपने समय के सम्पूर्ण यथार्थ का उपन्यास है यह उपन्यास जिस तरह पश्चिमी आधुनिकता और दिशाहीनता को प्रस्तुत करता है वह कई नवीनताओं को लिए हुए है। इस उपन्यास में अंतर्निहित विकास बनाम विनाश का विमर्श स्वयमेव नयी अर्थवत्ता ग्रहण कर लेता है।

[29]उप. पृ. 73.

2.2 ग्लोबल गाँव के देवता

हिंदी कथासाहित्य में बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक से ही अस्मितावादी उपन्यासों की एक धारा स्पष्ट रूप से उभरती हुई दिखाई देती है जो इक्कीसवीं सदी में और मुखर रूप से सामने आती है। वर्तमान समय में हिंदी कथा साहित्य में तीन विमर्श मुख्य रूप से दिखाई देते हैं- स्त्री, दलित और आदिवासी विमर्श। इसी विमर्श की कड़ी में 2009 में रणेंद्र का उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* प्रकाश में आया। यह उपन्यास मुख्यतः झारखंड में बसे 'असुर जाति' के संघर्ष की गाथा है। परन्तु अपनी सूक्ष्मता में यह पूरे समुदाय के वर्ग संघर्ष को हमारे सामने रखता है। इस उपन्यास में रणेंद्र ने असुरों की संघर्ष गाथा का बहुत ही मार्मिक चित्र खींचा है। एक ओर यह जाति अपनी नियति के खिलाफ लड़ रही है दूसरे इनके विरूद्ध ग्लोबल गाँव के देवता हैं। जैसे शिंडालकों और वेदांग। तो दूसरी ओर एम-पी और विधायक हैं। इसके अतिरिक्त तीसरी ओर शिवदास बाबा जैसे धार्मिक ठेकेदार भी हैं। जो एक ओर जनता के हिमायती बनने का दावा करते हैं वहीं दूसरी ओर उन्हीं से विश्वासघात करके अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं। धर्म के इन पाखंडों और राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से लिप्त समुदायों के आगे यह असुर जाति आत्मसमर्पण न करते हुए संघर्ष के मार्ग को अपनाती है। नियति के आगे झुकना नहीं बल्कि उससे लड़ना, उसका सामना करना इनका महत्वपूर्ण उद्देश्य है और आखिरी सांस तक संघर्ष करना उनकी मूलभूत विरासत है। *ग्लोबल गाँव के देवता की कथा* मूलतः लोकतांत्रिक भारत की है। ऐसा नहीं है कि ये लोग लोकतंत्र के खिलाफ हैं। समस्या यह है कि इन्हें दिखावे का लोकतंत्र नहीं चाहिए। प्रधानमंत्री को लिखा गया पत्र इस बात का ठोस सबूत है कि उन्हें इस बात का दोषी नहीं ठहराया जा सकता कि वे लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के विरूद्ध लड़ रहे हैं। एक ओर जिस जमीन पर वे

रहते हैं उस जमीन से निकाले गए खनिजों की कमाई से सुंदर शहर बसाये जा रहे हैं और दूसरी ओर उन्हें इसके बदले दोयम दर्जे के मजदूर की जिन्दगी देकर संतुष्ट किया जा रहा है।

रणेंद्र ने 'असुर जनजाति' की संघर्ष-गाथा के माध्यम से दुनिया के अनेक भागों में फैले हुए आदिवासियों के संघर्ष की पड़ताल की है। यह उपन्यास सदियों पुराने इतिहास को, इस जनजाति से जुड़ी दंतकथाओं और मिथकों को और इनसे बनी इस जनजाति के बारे में लोकप्रचलित धारणाओं को न केवल खंडित करता है, बल्कि इसके साथ-साथ समूचे आदिवासी समाज के प्रति नये सिरे से सोचने-विचारने को बाध्य करता है। असुरों को तथाकथित देवताओं ने प्रताड़ित किया। उन्हें लगातार अपनी जमीन से विस्थापित किया गया और विस्थापन की यह त्रासदी उन्हें आज भी झेलनी पड़ रही है। आज 'ग्लोबल गाँव के देवता' उन्हें पूरी तरह से उनकी जमीन से विस्थापित कर देना चाहते हैं न सिर्फ विस्थापित बल्कि वैश्विक स्तर से ही इनको खदेड़ा जा रहा है। इस उपन्यास की कथा तथाकथित देवताओं और असुरों की संघर्ष-गाथा को एक बार पुनः वैश्विक-पटल पर हमारे सामने रखती है। इसे संदर्भित करते हुये उपन्यासकार लिखता है

> यह केवल एक लालचन दा के चाचा की हत्या का सवाल नहीं था और न किसी असुर पर पहली बार या आखिरी बार आक्रमण हुआ था न यह पहली बार जमीन के टुकड़ों के लिए हत्या हुई थी। ये हजारों-हजार साल से चल रहे घोषित-अघोषित युद्ध की नवीनतम कड़ी मात्र था। कटे सर ने हमारी काल और देश की समझ को गड़बड़ा दिया था। समझ में ही नहीं आ रहा था कि हम वैदिक काल में हैं कि इक्कीसवीं सदी में।[30]

यह कथा एक राज्य के छोटे से क्षेत्र की है और राज्यों और देशों की सीमाओं का अतिक्रमण भी करती है। कथा वर्तमान में है, पर चुपके से अतीत से जुड़ जाती है। यह उपन्यास आदिवासियों के राजनीतिकरण की प्रक्रिया को भी प्रकट करता है। ग्लोबल गाँव के देवताओं के

[30]रणेंद्र, *ग्लोबल गाँव के देवता*, पृ. 32.

साथ-साथ उनके देशी आधारों के चरित्र को समझने एवं उनसे संघर्ष की रणनीति तैयारियों का ताना-बाना भी इसमें दिखाई देता है। जमींदारों की भूमि-लोलुपता, नौकरशाहों के मनमाने रवैये, शिवदास बाबा का कंठी-आंदोलन तथा स्त्रियों और लड़कियों का यौन शोषण यह सब इस उपन्यास के अनिवार्य प्रसंग के रूप में है। शिवदास बाबा, गौनू सिंह और किशन कन्हैया पांडे ये ऐसे चरित्र हैं, जो आदिवासियों की जमीन-जायदाद और उनकी औरतों पर अपना हक़ ज़माने की कोशिश करते हैं। भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने पांडे और शिवदास बाबा जैसे चरित्रों को फूलने-फलने के अवसर दिए हैं। पांडे तो ग्लोबल के देवताओं का ठेठ देशी भक्त है, जो लड़कियों को उनकी सेवा में ले जाता है।

भूमंडलीकरण के इस दौर में उद्योगपतियों, पूंजीपतियों को अपनी पूंजी के विस्तार की भरपूर आजादी है और इस दौर में गरीबों, आदिवासियों और उनकी स्त्रियों को तबाह होते जाना है। एक उदाहरण

> बीसवीं सदी की हार हमारी असुर जाति की सबसे बड़ी हार थी। इस बार कथा-कहानी वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया। उनकी फैक्ट्रियों में बना लोहा ,कुदाल, खुरपी, गैंता, खंती सूदूर हाटों तक पहुँच गए। हमारे गलाए लोहे के औजारों की पूछ ख़त्म हो गयी। लोहा गलाने का हजारों-हज़ार साल का हमारा हुनर धीरे-धीरे खत्म हो गया।[31]

शिवदास जैसे बाबा, संत समाज के नाम पर ठगी और अपनी यौन कुंठाओं की तृप्ति में रमे हुये हैं। लेकिन एक दूसरा पक्ष भी है, जो जन-आंदोलनों का है और ऐसे जमीदारों, बाबाओं, नौकरशाहों, खनन उद्योगपतियों और ग्लोबल गाँव के देवताओं को आन्दोलनों से चुनौतियां मिलने लगी हैं। ये आंदोलन स्थानीय और छोटे स्तर पर होते हुए भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इस उपन्यास में सामयिक जटिलताओं और वर्तमान चुनौतियों व बहसों की साहित्यिक प्रस्तुति भर

[31]उप. पृ. 83.

नहीं है। इसमें मानव समाज की उत्पत्ति से विकासक्रम में बेहतरी की अदम्य तलाश एवं निरंतर कठिन श्रम के जरिए विशिष्ट एवं युगांतकारी योगदान करने वाले समुदायों एवं खासकर जनजातियों को कालांतर में निरंतर हाशिए पर धकेल दिए जाने की ऐतिहासिक समझ भी मिलती है।

ग्लोबल गाँव के देवताओं को खनिज की भूख है और उनकी भूख मिटाने के लिए जनजातियों को जमीन से बेदखल करना जरुरी है। भारत सरकार को जनजातियों से ज्यादा भेड़ को बचाना जरुरी है। सरकार ग्लोबल गाँव की कम्पनी वेदांग के हितों की पूर्ति के लिए आदिवासियों के सैंतीस वन गांवों को खाली करने का नोटिस देती है। ताकि वेदांग केवल बाक्साईट निकालने का ही नहीं बल्कि अपनी एल्युमिनियम कम्पनी लगाने का भी सपना पूरा कर सके। लेकिन आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल कैसे किये जाए? सीधे-सीधे इनकी हत्या तो हो नहीं सकती। इसलिए सरकार इस इलाके में भेड़ियों की लगातार घट रही संख्या से चिंतित होकर उनकी रक्षा के लिए अभ्यारण बनाने का निर्णय लेती है। उदाहरण, "भेड़िया मन के बचावे ला आदमीजन के जान लेबैं...। यह योजना है कि जान मरने की स्कीम!"[32]

आदिवासियों के विस्थापन और इसके खिलाफ शांतिपूर्ण विरोध से लेकर हिंसक प्रतिरोध तक की स्थितियों को सामने लाने के लिए रणेंद्र ने असुर जनजाति को केंद्र में रखा है। धातु को पिघलाकर उसे आकार देने वाले कारीगर असुर जाति को मानव सभ्यता के विकासक्रम में हाशिए पर धकेल दिए जाने और अब अंतत: पूरी तरह विस्थापित करके अस्तित्व ही मिटा डालने की साजिश इस उपन्यास में सामने आती है। साम्राज्यवादी शक्तियां भूमि पर कब्ज़ा जमाने की नीति पर निरंतर आगे बढ़ रही हैं। खानों के खनन ने असुरों की 'बदहाल जिन्दगी' को संस्कृतविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन कर एक प्रकार से विस्थापित कर दिया है। उदाहरण,

[32]उप.पृ.78.

> फूलों, पार्कों से लदी हरी-भरी खूबसूरत कॉलोनी। एक से एक स्कूल, चमचमाते बाजार, क्लब घर, योग केंद्र, लाइब्रेरी, खेल के मैदान और न जाने क्या-क्या। सुंदर-सुंदर कुत्तों को घुमाती सुंदर-सुंदर महिलाएं, बर्फ के गोलों से गुलथुल उजले-उजले बच्चे, रंग-बिरंगी गाड़ियाँ। लगा इन्द्रलोक धरती पर उतर आया हो।[33]

उपन्यासकार ने यहां की लोक-संस्कृति को अत्यंत सूक्ष्मता से चित्रित कर उनके तीज-त्योहार, लोक-गीत, खान-पान, रहन-सहन, युवक-युवतियों में सहजीवन की अघोषित स्थितियां, जमीन के अधिग्रहण की कष्टदायी प्रक्रिया, आदि का बड़ा गहरा और प्रमाणिक परिचय दिया है। इसलिए इस समाज के विभिन्न पात्र-लालचन दा, रुमझुम, सोमा, भीखा, गोनू सिंह, बालचन इतने प्रमाणिक और जीवंत बन सके हैं। इन पात्रों के विभिन्न क्रिया-कलापों से यहां का लोक-जीवन साक्षात् होता चला जाता है। अपने देवता सिंगबोंगा की तरह असुर आदिम जाति बहुत बलिष्ठ और कर्मठ है, "आग से उत्पन्न, कभी लोहा पिघलाने और पिघला लोहा खाने वाले लोग खुद भी लोहा थे। केवल मक्का या कंदा खाकर लोग इतना खट सकते हैं, यह विश्वास नहीं होता।"[34] आज के समय एवं समाज का मूल्यांकन करें तो हम देखते हैं कि यह फर्क करना मुश्किल है कि भूमंडलीकरण ने इस पर अपना प्रभाव डाला या अपना प्रकोप फैलाया।

एक तरफ समाज क्रांतिकारी परिवर्तनों का ग्वाह बन रहा है, वहीं एक समाज ऐसा भी है जो गौरवहीन, गतिहीन और निष्क्रिय बना रहा। इस समाज की पहचान कभी सम्मानजनक नहीं रही, बल्कि उसे बर्बर, हिंसक, गंवार परम्परा का ही माना गया है। इसे मुख्यधारा से भी अलग रखा गया है न ही सभ्य समाज ने इसे अपना हिस्सा माना। आदिवासी समाज के सामने एक ओर तो अपनी जड़ को बचाने की कोशिश है, वहीं दूसरी ओर सबसे बड़ी चुनौती अपने अस्तित्व को बचाए रखने की है। समाज ने इन्हें 'सुर' एवं 'असुर' दो भागों में विभाजित कर दिया। मुख्य धारा

---

[33]उप. पृ. 16.

[34]उप. पृ. 24.

से दूर रखने का यह सबसे आसान तरीका था जहां किसी भी प्रकार के प्रतिरोध की भी गुंजाइश नहीं थी। समाज से उनका परिचय एक बर्बर, असुर के रूप में कराया गया, जिससे आम जनमानस के प्रति एक नकार का भाव पैदा हो जाये।

औद्योगीकरण ने चारो ओर एक उल्लास का वातावरण बनाया और इसी ने आदिवासी समाज की चीखों को जन्म दिया। यहीं से इस समुदाय के समक्ष अपनी संस्कृति की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो गया। पूंजीवादी युग ने देश की सीमाओं को तोड़ दिया और देशों को एक गाँव में तब्दील कर दिया। बाज़ार व्यवस्था ने कच्चे माल की मांग में तेजी पैदा कर दी है। अत: सीधे-सीधे वन एवं निर्जन प्रदेशों को निशाना बनाया गया, जिस समाज ने अपने निजी परिश्रम से इस संस्कृति की रक्षा की थी। परिणामस्वरुप उसने अपनी रक्षा के लिए गुहार लगाई पर वह पूंजीवाद की आड़ में बह गयी। अंततः उसे प्रतिरोध का सहारा लेना पड़ा।

ऐसा कभी न था कि आदिवासी समाज ने विकास की चाह न रखी हो, वह भी अपने समाज और संस्कृति को मुख्य धारा में चाहता है। परंतु जीवन के हर स्तर पर इनके साथ भेद-भाव किया जाता रहा है। इन्हीं की जमीन पर बड़े-बड़े विद्यालय बने पर इनके ही बच्चे यहाँ नहीं पढ़ सकते थे जबकि वह विद्यालय बने आदिवासी समाज के बच्चों की बेहतरी के लिए और उन पर कब्ज़ा है बड़े-बड़े बाबाओं, अफसरों का। *ग्लोबल गाँव के देवता* में रणेंद्र ने रुमझुम के मुख से कहलवाया है, "आखिर हमारी छाया से क्यों चिढ़ते हैं। ये लोग माड़-भात खिलाकर अधपढ़-अनपढ़ शिक्षकों के भरोसे, फुसलावन स्कूल के हमारे बच्चे ज्यादा से ज्यादा स्किल्ड लेबर, क्लर्क बनेंगे और क्या यही हमारी औकात है।"[35] रामकुमार इस उपन्यास के सबसे जागरूक और पढ़े-लिखे आदमी हैं। पेशे से डॉक्टर हैं। वे इस इलाके पर बड़ी मार्मिक टिप्पणी करते हैं, "इस पात

[35]उप. पृ. 19.

पर जीना बहुत कठिन है मास्टर साब किन्तु मौत बड़ी आसान है।"[36] इस बात का उद्घाटन भी वही करते हैं कि आदिवासी लड़कियों के लिए इस इलाके में बना आवासीय स्कूल 'असल' स्कूल नहीं 'फुसलावन' स्कूल है।

इस छोटे से उपन्यास में रणेंद्र जीवन और समाज की लगभग सभी समस्याओं को रेखांकित करने का प्रयास करते हैं और सफल भी होते हैं। इस उपन्यास में रणेंद्र ने मीडिया की भूमिका पर भी सवाल उठायें हैं। वर्तमान समय में मीडिया का जो स्वरुप हमारे सामने है उसको भी लेखक ने अभिव्यक्त किया है। जब पुलिस द्वारा मारे गए आदिवासियों की खबर को अखबार तीसरे पृष्ठ की और नक्सलियों के मारे जाने की खबर को मुख्य पृष्ठ की खबर बनाता है। इससे मीडिया का चरित्र भी दिखाई देता है। इस प्रकार यह उपन्यास बाक्साईट क्षेत्र के लोक-जीवन, वहां पसर रहे भूमंडलीकरण के खतरे को हमारे सामने रखता है। वैश्विक आर्थिकता-ग्लोबल का भयावह और त्रासद चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। जिसने वहां के जनजातीय समाज को पूरी तरह से निगल लिया है। यह उपन्यास न सिर्फ असुरों के संघर्ष को हमारे सामने रखता है बल्कि कई ज्वलंत प्रश्न भी हमारे सामने खड़ा कर देता है।

[36]उप. पृ. 29.

2.3 एक ब्रेक के बाद

अलका सरावगी ने *एक ब्रेक के बाद* उपन्यास में समसामायिक कॉर्पोरेट जगत को कथावस्तु का आधार बनाया है। यह कॉर्पोरेट जगत की वैचारिकता और धोखाधड़ी को दिखाता है। उपन्यास में कॉर्पोरेट जगत की चकाचौंध के बीच देश की एक तिहाई जनता को बदहाली की जिंदगी बिताते हुए दिखाया गया है, जो देश की सबसे बड़ी विडम्बना है। जबकि कॉर्पोरेट वर्ल्ड का मानना है कि 'ट्रिकल डाउन इफेक्ट' के अनुसार अंततः इस विकास का लाभ उस जनता को ही पहुंचेगा। उदाहरण,

> अंतत: आर्थिक सुधार का फायदा गरीबों को होगा। आखिर यह विकास का रास्ता है। ज्यादा नौकरियां होंगी, रूपये का दाम गिरना कम होगा, सामान सस्ता मिलेगा, सेवाओं में ज्यादा लोगों के काम की गुंजाइश होगी। अभी जो पब्लिक सेक्टर और अमीर किसान देश का खून चूस रहे हैं, वह पैसा गरीबों के काम में लगाया जा सकेगा। उसके लिए मुफ्त स्कूल और अस्पताल खोले जा सकेंगे। पूरा देश एक दिन खुशहाल होगा... एक दिन यहां डाल डाल पर सोने की चिड़िया बसेरा करेगी।[37]

उपन्यास में तीन प्रमुख पुरुष पात्र हैं। 'के. वी. शंकर अय्यर' रिटायर होने की उम्र में शहर के सबसे अधिक पैसा कमाने वाली 'मार्केटिंग कंसल्टेंट' है। 'भट्ट' एक होशियार व्यक्ति होते हुए भी नौकरियां छोड़ शहर-शहर घूमता है अपने पिता के भरोसे। 'गुरुचरण राय' का खर्चा अपने मित्रों के भरोसे चलता है। गुरुचरण उपन्यास का सबसे सशक्त पात्र है जिसको लेकर अन्य सभी चरित्रों के मन में जिज्ञासा बनी रहती है। गुरु कभी किसी से अपने बारे में कुछ बात नहीं करता। वह किसी से घनिष्ठ संबंध बनाकर बंधना भी नहीं चाहता, हमेशा मुक्त रहना चाहता है। उदाहरण, "मन अलबत्ता कहीं लगेगा नहीं किसी का। चार घंटे में नहीं, तो चार दिन में ऊब जायेगा। पर घूमता रहेगा आदमी। यहाँ से वहां। शायद इस बार मन लग जाए- हमेशा के लिए। ऐसा कुछ भ्रम

---

[37]अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, पृ. 52.

पालते हुए।"[38] गुरु की यह जीवन-शैली के. वी. और भट्ट दोनों के मन में अनेक भ्रम उत्पन्न करती, जिसके उत्तर पाने की तलाश में भट्ट पहाड़ियाँ खूँदता रहता है और के. वी. बार में बैठे पैक पर पैक पिये जाते हैं। जिज्ञासा, दुविधा और भ्रम के मायाजाल में फँसा व्यक्ति जिंदगी का मक्सद ही नहीं ढूँढ पाता,

> सुविधाओं के लिए पैसा जरूरी होता है- जैसे समझ लो कि इस पहाड़ की यात्रा करना। इस अर्थ में पैसा सुविधा भी है और आनंद भी है, पर जीवन का असली मकसद तो इसके लिए छोडा़ नहीं जा सकता। अब बस यही ढूँढना बाकी रहा कि जिंदगी का असली मकसद आखिर है क्या ?"[39]

गुरु से जुड़ा हुआ भ्रम, गुरु का बंधनों को तोड़ना और हमेशा स्वतंत्र जीवन जीने की हिमायत करना आधुनिक विचारधाराओं और विचारात्मक युटोपिया को ध्वस्त कर देता है। कॉरपोरेटवर्ल्ड की उपयोगितावादी, वस्तुवादी दृष्टि और आगे चलकर गुरु द्वारा इस दृष्टि से भी दरकिनार कर के परिधि पर स्थित आदिवासी गुटों से जा मिलना और उनकी ज़मीन के लिए लड़ना आदि आधुनिक महावृत्तांतों को करारी चोट पहुँचाते हैं।

उपन्यास के उत्तरार्ध में गुरुचरण लापता हो जाता है। गुरु के लापता हो जाने के रहस्य पर से परदा उठ जाने की आशा तब बँधती है जब गुरु की डायरियों का पार्सल के. वी. के घर आता है। दिन भर गुरु की डायरियां पढ़कर भी के. वी. उसमें से कोई ऐसी बात नहीं ढूँढ पाता जो उसके मन की व्यग्रता को दूर कर सके, क्योंकि नाम तो गुरुचरण ने लिखा ही नहीं है। पूरी डायरी में एक भी शख्स का नाम नहीं है। शायद इसका यह मतलब हो कि व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। वह कौन है, क्या कर रहा है या क्या सह रहा है, यही जानने की बात है। उत्तर-आधुनिक समय में व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण स्थितियाँ हो जाती है, जिसमें वह स्वतंत्र रूप से अपनी पसंद का कोई भी कार्य करने के लिए मुक्त है।

---

[38]उप. पृ. 33.

[39]उप. पृ. 61.

के. वी. और उनके विचार उपन्यास में उसके संपर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं ; पर गुरुचरण की डायरियों में जिस पाठ का आलेखन किया गया है उससे के. वी. का दिमाग चकरा जाता है। तीन बार डायरियां पढ़ने पर भी वह इन में से इतना ही समझ पाता है कि उसमें गुरुचरण की कंपनी की वार्षिक रपट मात्र है। के. वी. जिस कॉर्पोरेट नजरिये के आधार पर जीवन जीता है, वह इन डायरियों में कंपनी की लाभ-हानि के अलावा और कुछ नहीं देख पाती, गुरु के व्यक्तित्व को नहीं समझ पाती। के. वी. हैरान होकर उसे भुलाने की कोशिश करता है। संवेदनाहीन होकर एक वस्तु में परिणत हो चुके के. वी. की उलझन तब सुलझती है जब उसकी पत्नी गुरु की डायरियों का सही पाठ उसे समझाती है। वह जहां-जहां लिखता है,

> आप कहते हैं कि..., वहाँ वह 'आप' और कोई नहीं, तुम हो के. वी.। उसने वही बात लिखी है, जो तुमने अभी कही थी। यही कि वह दौ कौड़ी के लोग दौ कोड़ी की ज़मीन से चिपके रहेंगे, देश का विकास रोकने के लिए। तुम चाहो जो कहो के. वी., पर वह तुम्हारा दिमाग पढ़ सकता था के. वी.। तुम जो आगे सोचोगे और कहोगे, वह पहले से जानता था।[40]

अलका सरावगी का यह उपन्यास कॉर्पोरेट जगत की तमाम सच्चाइयों को हमारे सामने रखता है। वर्तमान समय में बदलते रिश्तों, जीवन-दर्शन, भागदौड़, स्वार्थलिप्सा, लुप्त होती संवेदनशीलता आदि को बहुत बारीकी से कथा में पिरोया गया है।

[40]उप. पृ. 172.

2.4 दौड़

भूमंडलीकरण के दौर में अर्थ पर आधारित भौतिकवादी सभ्यता का तीव्र गति से विकास हो रहा है। यह विकास हमें वास्तव में विनाश की ओर धकेल रहा है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति में मनुष्य मात्र वस्तु बनकर रह गया है। मानवीय संवेदना, नैतिकता, प्रेम आदि मूल्य भूमंडलीकरण की भेंट चढ़ गए हैं। ममता कालिया का उपन्यास दौड़ आधुनिक भारतीय समाज एवं जीवन में व्यवसाय जगत के प्रभाव तथा बढ़ते दबाव को दर्शाता है। आज के समय में व्यावसायिकता की अंधी दौड़ ने प्रव्रजन की भी समस्या को जन्म दिया है। एक ओर मनुष्य प्राकृतिक कारणों से अथवा सरकारी परियोजनाओं के तहत विस्थापित होने के लिए मजबूर है वहीं दूसरी ओर स्वेच्छा से अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत करने के लिए भी निरंतर प्रव्रजन की ओर बढ़ रहा है। आज के समय में 'अर्थ' सबसे महत्वपूर्ण हो गया है। भूमंडलीकरण और आधुनिकता ने सबसे अधिक प्रभावित किया है मानवीय संबंधों को। ममता कालिया ने इस समस्या को उपन्यास में बखूबी उठाया है। 'दौड़' शीर्षक से ही हमें यह ज्ञात हो जाता है कि यहां हर क्षेत्र में एक आपा-धापी मची हुई है। हर व्यक्ति आधुनिकता की इस 'दौड़' में जल्द से जल्द खुद को समर्थ बनाना चाहता है। 'दौड़' आज के उस मनुष्य की कहानी है जो बाज़ार के दबाव-समूह उनके परोक्ष-अपरोक्ष मारक तनाव, आक्रमण और निर्ममता तथा अंधी दौड़ में नष्ट होती मनुष्यता के आसन्न खतरे में पड़े मनुष्य को उजागर करती है। यह उपन्यास मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों की भी पड़ताल करता है। आर्थिक उदारीकरण ने बाज़ार और बाज़ारवादी व्यवस्था को ताकत दी है, कि उसने अपने पारस्परिक रिश्तों को अनुदार, मतलबी और अर्थ केन्द्रित बना दिया है। आज सभी मूल्य नष्ट हो गए हैं।

उपन्यास के पात्र पवन पाण्डेय, सघन, राकेश, स्टैला जैसे लोग आज व्यवसाय जगत की परिस्थितियों में घिरकर यथास्थितिवादी बनकर रह गए हैं। सभी यह जानते हैं

कि इस तेज दौड़ती जिन्दगी में किसी एक जगह बैठे रहकर अपना भविष्य बनाना संभव नहीं है। उपन्यास में ममता कालिया ने पवन, शरद, अभिषेक जैसे पात्रों के माध्यम से बाज़ार तथा मार्केटिंग जगत की नीतियों का परिचय दिया है। उपन्यास के प्रारंभिक अध्यायों में सभी कंपनियों के प्रोडक्ट्स बेचने की चुनौतियां तथा अन्य व्यवसाय जगत की समस्याओं का चित्रण किया गया है। मानवीय संबंधों की टूटन एवं खिचाव को पवन, सघन, स्टैला के जरीए बखूबी दिखाया गया है। पवन जब इलाहाबाद अपने माता-पिता से मिलने जाता है तो वे लोग उसे इलाहाबाद के आस-पास ही नौकरी ढूंढने के लिए कहते हैं। उन्हें आशा थी कि इस तरह वे अपने बेटे के कैरियर में रूकावट भी नहीं बनेंगे और पवन भी उनके पास रह सकेगा। लेकिन पवन की सोच और दृष्टिकोण कुछ अलग ही होते है। वह अपने पिता को कलकत्ते जाकर बसने की सलाह पर कहता है। उदाहरण,

> पापा मेरे लिए शहर महत्त्वपूर्ण नहीं है, कैरियर है। अब कलकत्ता को ही लिजिए। कहने को महानगर है पर मार्केटिंग की दृष्टि से एकदम लद्धड। कलकत्ते में प्रोड्यूसर्स का मार्केट है, कंज्यूमर्स का नहीं। मैं ऐसे शहर में रहना चाहता हूँ कल्चर हो न हो, कंज्यूमर कल्चर जरूर हो। मुझे संस्कृति नहीं उपभोक्ता संस्कृति चाहिए, तभी मैं कामयाब रहूँगा।[41]

उसके इस जवाब से माता पिता अचंभित हो जाते हैं। चूंकि वह आदर्श से ज्यादा यथार्थ की ओर झुक जाता है। इतना ही नहीं जितने दिन वह घर रहता था उतने दिन उसका व्यवहार अपने माता-पिता से, विशेषकर अपनी माँ से एक पराए व्यक्ति जैसा रहता है। यहाँ तक कि धोबी से स्त्री होकर आये कपड़ों के लिए पवन ज्यादा पैसे दे देता है तो उसकी माँ उसे समझाती है कि यदि वह टूरिस्ट की तरह पैसे देता रहेगा तो यह लोग सिर चढ़ जायेंगे लेकिन पवन को माँ की यह बात रास नहीं आती। अपने दफ्तर में मिल रही इज्जत का हवाला देते हुए वह अपनी माँ को ताने देने लगता है। पवन अपने विचारों से न केवल माता पिता को आहत करता है बल्कि उसके

---

[41]उप. पृ. 40.

जीवन साथी के चयन तथा उसके साथ वैवाहिक जीवन में दुःख भी पहुंचता है। रेखा और राकेश दोनों पवन को समझाते हैं कि शादी के बाद साथ रहना जरूरी होता है उसे विवाह के वचनों का भी वास्ता देते हैं पर पवन फिर से अपने आधुनिक यथार्थवादी विचार यह कहकर रखता है कि पापा आप भारी भरकम शब्दों से हमारा रिश्ता बोझिल बना रहें हैं। मैं अपना कैरियर, आजादी कभी नहीं छोडूंगा।

सघन जब दूसरे मुल्क जाकर गन्दी राजनीति में फंस जाता है तो पवन इसकी सूचना अपने परिजनों को देकर अपने बड़े भाई होने की औपचरिकता को पूर्ण करता है। वहीं सघन को इस औपचारिकता से भी परहेज है वह अपने देश वापस आने के लिए अपने पिता से पैसों की मांग करता है। आज इस बदलते परिवेश में केवल माता-पिता, भाई- बहन के रिश्तों में ही परिवर्तन नहीं आया है अपितु इसने पति-पत्नी जैसे मधुर संबंधों की कसौटी को भी पलटकर रख दिया है। दाम्पत्य जीवन का केंद्र-बिंदु हो गया है,'आर्थिक आत्मनिर्भरता'। जो आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है उसी के पास समस्त अधिकार सुरक्षित हैं। आर्थिकता की इस अंधी दौड़ में नैतिकता के कई प्रश्न हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। विज्ञापन और मार्केटिंग के इस दौर में नैतिकता के प्रश्न पर अभिषेक राजू से कहता है, "मैंने आई. आए. एम. में दो साल भाड़ नहीं झोंका आई कैन सेल ए डेड रैट। यह सच्चाई और नैतिकता सब मैं दर्जा चार तक मोरल साइंस में पढ़कर भूल चुका हूं।"[42] ममता कालिया दौड़ उपन्यास में संबंधों के पीछे के यथार्थ को दिखाती हैं जो टूटने की कगार पर हैं। इन सभी समस्याओं के अतिरिक्त एक समस्या और है- 'प्रव्रजन'।

शिक्षा का प्रव्रजन से गहरा संबंध है। आज प्रत्येक मनुष्य उच्च शिक्षा प्राप्त करके बेहतर रोजगार की तलाश में रहता है। "सन् 84 से बाहर हूँ। पहले पढ़ने के खातिर, अब

[42]उप. पृ. 37.

काम की।"[43] अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार आज प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनवृत्त को उसी के अनुरूप ढालना चाहता है। इसके विपरीत जो अशिक्षित रह जाते हैं, उनके भीतर भी प्रव्रजन की प्रक्रिया चलने लगती है। वर्तमान समय में औद्योगीकरण के दौर में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को सभी भौतिक सुविधाओं से परिपूर्ण बनाना चाहता है।

निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि आज विश्व व्यापार की कल्पना वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण या बाजारवाद के कारण बदल गयी है। आज बाज़ार का भौगोलिक स्थान स्थिर न होने के कारण बाज़ार के एक ऐसे स्थान को महत्व प्राप्त हो रहा है, जहां न रचना है न क्रेता-विक्रेता। इसी मुक्त बाजारवाद ने भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण, उदारीकरण तथा एक उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। प्रश्न यह है कि भूमंडलीकरण की इस अंधी दौड़ में हम कहाँ हैं? भारतीय संस्कृति मुक्त बाज़ार व्यवस्था की संस्कृति बन गयी है।

[43]उप. पृ. 16.

2.5 जानकीदास तेजपाल मैनशन

हिंदी कथा साहित्य में स्त्री-लेखिकाओं का आगमन कई दृष्टियों से युगांतकारी माना जाता है। इन्होंने अपने कथ्य को भिन्न-भिन्न विषय-वस्तु के साथ प्रस्तुत किया है। अलका सरावगी का उपन्यास *जानकीदास तेजपाल मैनशन* अपने समय की बुनियादी समस्याओं को समाज के सामने रखता है। इस उपन्यास की कथा का ताना-बाना कोलकाता के सेंट्रल एवेन्यू के पास रचा गया है, तत्पश्चात आगे की कथा विकास की आड़ में खेले जा रहे खेल के आगे सर झुकाए खड़े जानकीदास तेजपाल मैनशन के इर्द-गिर्द चलती है। ऐतिहासिक इमारत के बहाने लेखिका ने सत्तर के दशक के बाद भारतीय समाज में आए बदलाव को, पीढ़ियों के द्वंद्व को, बदलते सामाजिक मूल्यों को, टूटते विश्वास को, रिश्तों में पनपते आपसी विश्वास को, विकास के कारण हो रहे विस्थापन को, धन कमाने की होड़ में कुछ भी कर गुजरने की चाह को, पत्रकारिता में आ रहे ह्रास आदि समस्याओं को एक साथ समेट लिया है।

लेखिका ने कथा के नायक जयदीप को सेंट्रल एवेन्यू स्थित 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' के एक छोटे से हिस्से के निवासी के रूप में पहचान नहीं दी है बल्कि वह मेट्रो पीड़ित बंधु एसोसिएशन का प्रेसिडेंट है अर्थात् आर्थिक उदारीकरण के दौर में विकास की अवधारणा की नि:संग जांच करने वाला बुद्धिजीवी व्यक्ति। विकास के लिए जमीन को पाताल तक और आकाश को अनन्त उंचाइयों तक खोज लेने वाली संस्कृति मनुष्य के विकास का दंभ भरकर आगे बढ़ती है या हाशिये पर धकेल दिये गए प्रत्येक मनुष्य को और गहरे गर्त में ले जाने का षड्यंत्र रचती है। 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' दरअसल एक हवेली भर नहीं है। बल्कि यह एक पुरानी संस्कृति और जीवनशैली को ढहा दिये जाने की साजिश का प्रतीक है। जिसे केवल वही लोग जान सकते हैं जो अंदर के सन्नाटे की ध्वनि को सुनने के आदि हैं। सिसकते 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' के प्रतीक में विनयस्त होकर विकास की नई पगडंडियों के रूप में उभरे अपने ही

वंशजो जयदीप और रोहित-सुमित के पतन पर हतवाक को उठे हैं। 'हनुमानगढ़ हाउस' का छ: चौक का विशाल मकान जिसमें कम से कम दो सौ परिवार रहते थे, वहां अब इस हवेली को तोड़ कर मॉल बनाया जा रहा है। एक-एक इंच जमीन पर पुलिस की, काउंसलर की, एम. एल. ए की और छोटे-बड़े गुंडों की निगाहें टिकी हुई हैं। कलकत्ता के सेंट्रल एवेन्यू पर 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' नाम की अस्सी परिवारों वाली यह इमारत सतह पर खड़ी दिखती है।

भूमंडलीकरण के दौर में यहाँ से वहां दौड़कर विकास की आंधियों ने विकास की दुनिया का नक्शा ही बदल दिया है। दरअसल मेट्रो बनने को लेकर 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' को तोड़े जाने का प्रस्ताव पारित होता है जिसके बाद वहां रहने वाले अमूमन सभी परिवार उस हवेलीनुमा मकान को छोड़कर चले जाते हैं। लेकिन जयगोविन्द और उसकी पत्नी वहां डटे रहते हैं। कलकत्ता के बाज़ार के मध्य स्थित 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' का ढहना उपन्यास की दृष्टि में कलकत्ता की संस्कृति का ढहना है। उपन्यास का एक पात्र जयदीप भारत की समाज-व्यवस्था से अमेरिकी समाज-व्यवस्था को कई मायनों में मुक्त पाता है। वह महसूस करता है कि अमेरिका कितना अच्छा था। वहां का माहौल कितना अच्छा था। एक ओर जयदीप भारत में विस्थापन की समस्या को जड़ से ख़त्म कर देना चाहता था वहीं दूसरी ओर वह भारतीय समाज व्यवस्था पर अमेरिकी समाज व्यवस्था का आवरण डाल देता है। जबकि जयदीप पश्चिमी हवा के खिलाफ है परन्तु फिर भी वह उसे भारतीय वातावरण से अच्छा मानता है। तुलना करता है और पाता है कि भारतीय दुनिया से अच्छी है अमेरिकी दुनिया। जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती है हमें ज्ञात होता है कि जयदीप भारत की उस व्यवस्था के खिलाफ़ है जिसने समय-समय पर विकास के नाम पर जनता का शोषण किया है और उसे निरंतर विस्थापित किया है। अलका सरावगी लिखती हैं, "जिस देश में हम रह रहे हैं यह दलालों का देश है। यहां फलने-फूलने के लिए किसी न किसी तरह का

दलाल बनना पड़ता है। मूनलाइट सिनेमा के बाहर सड़क पर चौकी लगाकर अड्डा जमाने वाला समर शुक्ला कहाँ का कहाँ पहुँच गया।"[44]

उपन्यास में प्रशासन और ठेकेदारों के सांठ-गांठ और आम व्यक्ति के संबंधों को दिखाया गया है। यह सच है कि बड़े-बड़े ठेकेदार शासन-प्रशासन से तालमेल कर मनमानी करते हैं। आम आदमी के लिए प्रशासन सिर्फ दिखावा भर रह गया है। जयदीप इन षड्यंत्रों के खिलाफ अकेला जूझ रहा है। इमारत में रहने वाले लोग वहां से मुआवजा लेकर जा चुके हैं। जयदीप के अंदर उसे बचाने की ललक अभी भी जिन्दा रहती है। इस बिल्डिंग को खाली करवाकर इस पर नया कंस्ट्रक्शन बनाने की कोशिश लगातार जारी थी। मेट्रो के लिए जो सुरंग खोदी गयी है जिसके कारण पूरी इमारत झुक गयी है। 'विकास के लिए विस्थापन आवश्यक है' ऐसे तर्क देने वालों की मनोवृति यहाँ निरंतर दिखाई देती है। उपन्यास का कथ्य स्थल तो कलकत्ता है परंतु नायक जयदीप के माध्यम से लेखिका ने पूरे भारत भूमि पर इस विकास की दौड़ में गायब होते मानवीय मूल्य, मानवीय संवेदना को जिस गहराई से प्रस्तुत किया है वह सराहनीय है। जैसे कि "इस देश में कोई भी बड़ा से बड़ा चोर, डाकू, लूटेरा, खूनी नहीं है जो आदर्शों की बात न करता हो, जो गांधी, सरदार पटेल, नेहरु या सुभाष बाबू का नाम न लेता हो।"[45]

यह उपन्यास विस्थापन और नाकाम सिस्टम का दस्तावेज है। इस उपन्यास में घर से बेघर होते न जाने कितने भारतीयों को समेटा गया है। सरकारी नीतियों का जनसामान्य के प्रति क्या रवैया रहता है, वे कैसे और किन लोगों के लिए होती हैं? इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट किया गया है कि भारत में मेट्रो का सर्वप्रथम आगमन 1970 में पश्चिम बंगाल के शहर कलकत्ता में हुआ

[44]अलका सरावगी, *जानकीदास तेजपाल मैनशन*, पृ. 72.

[45]उप. पृ. 76.

> मेट्रो रेल की खुदाई का काम क्या शुरू हुआ, सेंट्रल एवेन्यू का हुलिया की बदल गया। फुटपाथ और बरामदों को तोड़ने का नोटिस आया तो लोग सन्न ही रह गए। बरामदे और उनके खम्बे, टूटे पीले फूलों वाले राधाचूड़ा के पेड़, रातों रात गायब हो गए। सेंट्रल एवेन्यू ऐसी बेरौनक लगने लगी। जैसे कि कोई सिर मुंडाई हुई जवान बंगाली विधवा हो।[46]

'जानकीदास तेजपाल मैनशन' में रह रहे किसी भी व्यक्ति को यह नहीं पता चला कि यह क्या हो रहा है? और अभी क्या-क्या होगा। अर्थात् विस्थापन का दंश सहना अभी बाकी है। विस्थापन की वजह से पहले से ही गरीब तबके को ऐसे नए समाज में धकेल दिया जाता है जिसमें उनके लिए आपस में जुड़ाव की कोई तैयारी नहीं होती। इसलिए भले ही उन्हें पुन: बसाया जाए पर वे नए समाज और आर्थिक स्थिति में खुद को ढालने के लिए तैयार नहीं होते। इससे उनकी सामाजिक और मानसिक स्थिति और बदहाल हो जाती है। भूमि अधिग्रहण का हर कदम उनके हाशिए पर धकेले जाने में अपनी भूमिका निभाता है। उनकी आजीविका बिना उनकी सहमति के अधिग्रहित कर ली जाती है। भारत के लिए विकास एक मूलभूत अनिवार्यता है, लेकिन इसके परिणामस्वरुप विस्थापन एक विकराल समस्या बनकर हमारे सामने खड़ा हो गया है। यह एक ऐसी कड़वी सच्चाई है जिसने भारत में लोकतंत्र, न्याय, समानता और विश्वास जैसी बुनियादी संकल्पनाओं की वास्तविकता को प्रश्नांकित कर दिया है। आज़ादी के बाद भारत की अनगिनत परियोजनाओं से देश को एक मजबूत आर्थिक आधार तो मिला है, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि बाँध, सड़क निर्माण, शहरीकरण, खनन, उद्योग जैसी परियोजनाओं के कारण आबादी के बड़े हिस्से को विस्थापन की पीड़ा झेलनी पड़ी है। इसी बेदखली की दास्तान को उपन्यास में बड़ी मार्मिकता के साथ दिखाया गया है। किसी के बेदखल होने के पीछे कितनी संवेदनाएं काम करती हैं। तभी लेखिका अंत में कहती हैं, ''बेदखल होना और बेदखल करना एक साथ होते ही हैं। यह

[46]उप. पृ. 32.

तो जीवन का शाश्वत सत्य है।"[47] इस उपन्यास में योजनाकारों का सारा ध्यान योजना के वित्तीय व तकनीकी पहलुओं पर ही जाता है, लेकिन वे जानने का प्रयास नहीं करते कि उनकी योजनाओं से कितने लोग प्रभावित हो रहे हैं। जब उन्हें पुनः बसाने की कवायद शुरू होती है, तो हाशिये पर जी रहे समुदाय, महिलाओं तथा बच्चों की जरूरतों को नजरअंदाज कर दिया जाता है।

[47]उप. पृ. 184.

2.6 शिगाफ़

मनीषा कुलश्रेष्ठ का उपन्यास *शिगाफ़* कश्मीर की धरती और उसकी समस्या से जुड़ा हुआ है। जिसमें कई संवेदनाओं को मिलाकर एक कर दिया गया है। उपन्यास का आरम्भ स्पेन में होता है। लेखिका ने अमिता के ब्लॉग, यास्मीन की डायरी, मानव बम जुलेखा का मिथकीय कोलाज, अलगाववादी नेता वसीम के एकालाप के जरिये कश्मीर और कश्मीरियत की कथा को एक अलग ढंग से ही प्रस्तुत किया है। इन समस्याओं को लेखिका ने ब्लॉग शैली के माध्यम से अपने उपन्यास में उकेरा है। कश्मीर के विस्थापित हजारों कश्मीरियों की पीड़ा तथा वहां जीवन व्यतीत कर रहे लाखों के दर्द, घुटन और छटपटाहट की वास्तविक तस्वीर भी उजागर करता है। शिगाफ़ का अर्थ है दरार। इस उपन्यास में विस्थापन का दर्द महज एक सांस्कृतिक, सामाजिक विरासत से कट जाने का दर्द नहीं है बल्कि अपनी जड़ों के लिए भटकने और कहीं जम न पाने की भीषण विवशता है, जिसे अपने निर्वासन के दौरन सेन सेबस्टियन (स्पेन) में रह रही अमिता लगातार अपने ब्लॉग में लिखती रही है। उपन्यास की नायिका पात्र अमिता कश्मीर से निर्वासित हुई है। तीन वर्षों से स्पेन में रह रही है। उसकी स्मृति में, चेतना में उसके बचपन का घर अब भी जीवित है जो उसकी चेतना से मिटता नहीं है। स्पेन में अस्मिता की मुलाकत इयान बोर्ड से होती है, वह अमीता को फ्रेंको की तानाशाही जीवन मूल्यों में आई गिरावट, स्पेन का युद्ध, बास्क संघर्ष आदि अनेक किस्से, घटनाएँ सुनाकर उसे 'भोगा हुआ सच' के बारे में लिखने के लिए प्रोत्साहित करता है। जिस प्रकार बास्क संघर्ष से निकाला जा चुका है वैसे ही कश्मीर की समस्या को भी हल किया जा सकता है। परन्तु कश्मीर की समस्या बेहद पेचीदा है जिस पर अमीता कहती है,

हमारे यहाँ हल निकालना इतना आसान नहीं है- कश्मीर अकेले में हम तीन तरह के कश्मीरी हैं। कश्मीरी हिन्दू, कश्मीरी सुन्नी, कश्मीरी रिया, सूफी और खानाबदोशों की बात अलग से करें।...फिर लेह बौद्ध बहुल है। यहाँ धार्मिक पहचान ज्यादा बड़ा मसला है। हल बेहद मुश्किल।[48]

मुजहब हसनैन जो मूलतः कश्मीर का है अब लंदन में रहता है ब्लॉग पर टिप्पणी करता है,

मैं दो साल पहले कश्मीर लौटा था, मगर वहां जाकर लगा कि मैं भगोड़ा हूँ। लोगों ने, मिलिट्री ने सभी ने मुझ पर शक किया। मैं वापस यहाँ आया और यहीं पर बस गया। अब मैं कश्मीर के बारे में पढ़ने से बचता हूँ, मैं अपनी पहचान से बचता हूँ वे सारी चीज़ें जिनसे मैं बना हूँ, उन्हें मैं नकारता हूँ।[49]

लेखिका ने उपन्यास में इंटरनेट पर ब्लॉग जैसी तकनीकी का बखूबी प्रयोग किया है। विस्थापन से पीड़ित अमीता अपने दर्द को ब्लॉग के माध्यम से बयाँ करती हैं। लेखिका ने तमाम बिन्दुओं को उजागर कर अलग-अलग समस्याओं को हमारे सामने रखने का प्रयास किया है। उपन्यास में धर्म, जाति, संस्कृति और आवास की पीड़ा दर्शायी गयी है। विचारधाराओं और मनुष्य के गहराते दर्द को लिखा है।

लेखिका कश्मीर की स्त्रियों के दर्द को भी बयां करती हैं। नसीम की कहानी से वहां की स्त्रियों की स्थिति हमारे सामने आई है। इन स्त्रियों का वहां की स्थितियों से कोई वास्ता नहीं है फिर भी वे झेल रही हैं, दुखों का पहाड़ और मार। अमीता अपने ब्लॉग में बताती हैं,

कश्मीर की स्थिति यह है कि सात औरतों में एक कमाने वाला मर्द आता है। आए दिन जान की आफ़त। महंगाई इतनी कि बस...नौकरी नहीं मिलती। उस पर परदेदारी अलग से और डर।...ऐसा कि औरतें सोए बिना महीनों से रह रही हैं कि आँख सुर्ख हो जाती हैं मगर नींद...गुम।[50]

उपन्यास में लेखिका सारी घटनाओं को तारीख़ के साथ देती हैं जो कहीं न कहीं उन घटनाओं की वास्तविकता को दर्शाती हैं

---

[48]मनीषा कुलश्रेष्ठ, *शिगाफ़*, पृ. 38.
[49]उप. पृ. 60.
[50] उप. पृ. 78.

कश्मीर मामले का एक सिरा उस राजनीति से जुड़ता है जिसमें नेता देश की सुरक्षा और विश्वास को ताक पर रखते हुए, कड़ी परिस्थितियों में ड्यूटी निभाते जवानों और अधिकारियों को मानवाधिकार आयोग के अलावा 'एमनेस्टी' जैसी संस्थाओं के सामने आए दिन मानवाधिकार हनन के आरोप में खड़ा कर देते हैं। उपन्यास सेना के जवानों के मानवाधिकार के सवाल उठाने का भी साहस करता है। और इन सबके ऊपर वजीर की टिप्पणी, "बदलेगा नहीं...चारों ओर से पैसा कश्मीर की ओर बह रहा है। आर्मी से, सरकार से, मिलिटेंसी से, सऊदी अरब से, एनजीओ से। यहाँ हर किसी ने दुकान खोली हुई है। यहाँ हर चीज बिक रही है।"[51] इस कथन के दो भिन्न चित्र बहुत साफ़ और अंदर तक हिला देने वाले अंदाज में सामने आते हैं। एक है जुलेखा के पिता द्वारा आतंकियों को पनाह देने की कथा और दूसरा उपन्यास के अंत में अमन की उम्मीद जगाते टूरिस्टों की बस पर भूख की मार से त्रस्त बच्चे द्वारा बम फेंके जाने की घटना। अजीम इस बात से अंजान कि मौत जल्दी ही उसके वजूद पर हक़ जमा लेगी, ठीक उसी तरह जैसे, बस पर बम फेंकने वाला बच्चा नहीं जानता कि टूरिस्ट नहीं आएंगे तो वह और भूखा मरेगा। जैसे वसीम यह बात जानता है वैसे ही बम फेंकने वाले बच्चे का पिता भी। पर वे सब अपने-अपने तथाकथित लक्ष्य के जाल में उलझे और कसे हुए हैं- कोई नहीं जानता कि वास्तव में जाल का सूत्र किन शक्तियों के हाथ में है। वे लोग महज कठपुतलियां हैं।

इस उपन्यास में लेखिका विस्थापन की पीड़ा को व्यक्त करने के लिए एक बिम्ब का बार-बार उपयोग करती हैं, 'हमारी जड़े खुल गयी हैं।...जड़े नंगी हो गयी हैं...आदि।' अमिता के माध्यम से लेखिका गोया इन्हीं जड़ों की तलाश करती हैं। लेखिका एक जगह इस पर भी दृष्टि डालती हैं कि हिन्दुओं के कश्मीर से विस्थापित हो जाने के बाद वहां बचे मुसलमानों की भी जड़े उघड़ गई हैं, क्योंकि दोनों कोमें एक-दूसरे से जुड़ी हुई थी। मूलतः यह उपन्यास छोटी-छोटी

[51]उप. पृ. 85.

कहानियों का कोलाज है। स्पेन में अमिता के जीवन की चर्चा की गयी है, जिसका एक पक्ष अमिता के जीवन में पहले प्यार की तरह इयान बांड का आना है यह प्यार रूह में तो उतरता है पर शरीर में नहीं बहता है इसका कारण है- श्रीनगर से विस्थापित होने के बाद अमिता के साथ हुई दुर्घटना मकान मालिक के वहशीपन की शिकार अमिता लम्बे समय तक ठंडेपन में चली जाती है। उपन्यास के प्रारम्भ में और अंत में अमिता के प्रेम का वर्णन मिलता है परन्तु यह उपन्यास अमिता की प्रेमगाथा नहीं है बल्कि यह प्रेम गाथा है भी तो यास्मीन वसीम की प्रेम कथा, जुबैदा आसिफ़ की कथा। जो हिंसा के रंग में रंग जाती है।

विस्थापित हिन्दुओं की तकलीफ और गुस्सा अमिता के ब्लॉग पर आई प्रतिक्रियाओं में हमें दिखाई देता है मणि मौसी की पोती की सगाई में एकत्रित हुए रिश्तेदारों के मध्य एनकाउंटर्स में मारे गए कश्मीरियों की चर्चा होती है। अलगाववादी पार्टी के नेताओं के उपवास पर अरुण भाई साहब की टिप्पणी इसी नाराजगी को दिखाती है। कश्मीर में एथनिक क्लींजिंग के पैरोकार यही थे जो आज उपवास रख रहे हैं। हिटलर मानों गाँधी का चोला पहनकर आ गया हो। यही गुस्सा अमिता द्वारा मतिभ्रम का शिकार होकर जम्मू में हब्बाकदल ढूंढती दादी के जिक्र में भी दिखाई पड़ता है। उपन्यास में तीन अन्य कहानियां भी हमारा ध्यान खींचती हैं। ये हैं नसीम, यास्मीन और जुलेखा की कहानियां। दिल्ली की सेल्सगर्ल नसीम की यह बात अंदर तक झकझोर देती है कि हाल तो यह है कि कमाऊ आदमी कश्मीर में आजकल सात औरतों पर एक आता हैऔर औरतें मारे डर के महीनों से सोए बिना रह रही हैं। यही बातें तलाकशुदा नसीम को दिल्ली ले आती हैं जहां वह एक अधेड़ उम्र के शादीशुदा आदमी की दूसरी पत्नी बन जाती है। इसके अतिरिक्त दो अन्य कहानियां ज्यादा मार्मिक हैं। यास्मीन की व्यथा और उसकी मौत तो अलगाववादी नेता वसीम की सोच को ही बदल देती है। यास्मीन दरअसल अमिता के व्यक्तित्व का, उसके चरित्र का ही एक पहलू है। तीसरी कहानी जुलेखा की प्रेमकथा है- यास्मीन के प्रेम में वसीम को बदलने

का सामर्थ्य है तो जुलेखा प्रेम में सबकुछ भुला बैठने का प्रतीक। वह आसिफ़ के प्रेम में जिहाद और वफ़ा के लिए सदियों की नींद में गम हो जाने की ख्वाहिश रखती है। ये सारी कहानियां अंततः पूरे कश्मीर अवाम के विस्थापन की पीड़ा की अभिव्यक्ति करती हैं।

2.7 गायब होता देश

रणेंद्र का उपन्यास *गायब होता देश* झारखण्ड के मुंडा आदिवासियों को केंद्र में रखकर लिखा गया है। यह उपन्यास झारखण्ड के सम्पूर्ण आदिवासी समाज के संकट, शोषण, लूट, पीड़ा और प्रवंचना पर आधारित है। विकास की इस अंधी दौड़ में निरंतर आदिवासी समुदायों का ह्रास हो रहा है। गायब होता देश उपन्यास इन्हीं समस्याओं को हमारे सामने रखता है। लेखक ने उपन्यास को इक्यावन अध्यायों में विभाजित कर भूमंडलीकरण और विकास की बलि चढ़ते आदिवासियों की करुण गाथा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है साथ ही आदिवासी जीवन संस्कृति की ओर भी उनका प्रकृति प्रेम और उसके प्रति उनकी सहज आस्था को भी उपन्यास में चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में एक ओर जंगल की हरियाली है तो दूसरी ओर उजड़ती बस्तियों का सन्नाटा भी है। लेखक ने अपने आसपास की घटनाओं को ही कथानक का आधार बनाया है।

उपन्यास का मुख्य पात्र किशन विद्रोही है जो एक पत्रकार है। किशन विद्रोही की एक निजी डायरी है, जिसमें उसके जीवन के तमाम अनुभव सम्मिलित हैं। इसके साथ ही उसकी डायरी में उसके अनुभवों के साथ-साथ आदिवासी समाज भी आता है। किशन विद्रोही जाति से सवर्ण है और सुविधासंपन्न परिवार से आता है परन्तु इसके बावजूद उसका ध्यान सदैव गरीबों की ओर रहता है। उनकी समस्याओं के बारे में जानना उसके लिए विद्रोह करना उसके एक अलग ही चरित्र से हमारा परिचय कराता है। यही कारण है कि किशन पत्रकारिता को अपने जीवन का आधार बनाता है और करियर के रूप में उसे चुनता है। इस दौरान उसका सारा ध्यान आदिवासियों की समस्याओं पर केन्द्रित रहता है। सामंतशाही शक्तियां और पूंजीपति वर्ग सदियों

से आदिवासियों का शोषण कर रहा है यही कारण है कि किशन विद्रोही की कार्यशैली भी उनकी आँखों में चुभती है और रास नहीं आती। इसलिए वे कई बार उसे डराने और धमकाने की भी कोशिश करते हैं। इसी क्रम में उस पर अखबार वालों के द्वारा भी दवाब बनाया जाता है कि वह ऐसी ख़बरों को ज्यादा तवज्जों न दे। उसे स्वयंको बदलने का उपदेश मिलता है, "देखो! के के बदलो यार। समय के साथ कदम से कदम मिला कर चलना ही बुद्धिमानी है। प्रोफेशनल लाइफ में अडियलपन से काम नहीं चलता। आगे दूर तक देखिए।"[52] पर किशन विद्रोही ने अपने कदम पीछे नहीं करता। आदिवासियों के अस्तित्व तथा हक की लड़ाई लड़ने में उसने अपनी जान गंवा देता है।

इस उपन्यास का आरम्भ 'सोना लेकन दिसुम' (सोने जैसा देश) नामक एक गाँव से होता है जो सोने के समान है परन्तु धीरे-धीरे गायब होता जा रहा है। इसे नष्ट करने वाला राष्ट्र ही है। ऐसा राष्ट्र-राज्य जिसने वैश्विक पूंजी से हाथ मिला लिया है। इस उपन्यास में गाँव को इस तरह दिखाया है, "सोने के कणों से जगमगाती स्वर्णकिरण-स्वर्णरेखा, हीरों की कौंध से चौंधियाती शंख नदी, सफेद हाथी श्यामचन्द्र और सबसे बढ़ कर हरे सोने, शाल-सखुआ के वन। यही था मुंडाओं का सोना लेकन दिसुम।"[53] सोना लेकन दिसुम के गायब होने का एक साक्षी पत्रकार किशन विद्रोही है जिसकी हत्या हो जाती है; एक ऐसी हत्या जिसकी लाश तक नहीं मिलती। इस गुत्थी को सुलझाना शेष है जो उपन्यास के अंत तक सुलझ नहीं पाती है। पत्रकार किशन विद्रोही की हत्या कर दी जाती है लेकिन "न तो कोई चैनल न कोई अखबार पूरी गारंटी के साथ यह कहने को तैयार था कि हत्या ही हुई है। लाश मिली नहीं थी। खून में सना तीर और बिस्तर में खून के

---

[52]रणेन्द्र, *गायब होता देश*, पृ. 119.

[53]उप. पृ. 1.

गहरे धब्बे बताने की कोशिश कर रहे थे कि हत्या ही हुई होगी।"[54] उपन्यास की कथावस्तु दो रूपों में चलती है, एक तो यह कि पत्रकार किशन विद्रोही के संघर्ष की कहानी से लेकर उसकी हत्या तथा डायरी तक की घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन किया गया है जिसमें कॉर्पोरेट, राजनेता, अफसरशाही, मीडिया-भूमाफिया गठजोड़ का मुंडा समाज पर हमला करना और दूसरी तरफ सोमेश्वर उपन्यास में मुंडा जाति की अस्मिता और इतिहास का आख्यान, भौगोलिक स्तर पर आदिवासी क्षेत्रों की यथास्थिति की घटनाओं का क्रम, भौगोलिक दृष्टिकोण का वर्णन करते हुए वहाँ की नदियाँ, जंगल, पर्वतों, जलवायु और मौसमों का उल्लेख आदि सोमेश्वर मुंडा के चरित्र से गति प्राप्त करता है। "आदिवासी टोले गायब किए जाते रहे। उनकी जमीन छीनी जाती रही, उनके गाँव उजाड़े जाते रहे। इस शहर का इतिहास उतना ही पुराना है जितना आदिवासी जमीन की लूट का इतिहास। अपनी जमीनों से उजाड़ दिए गए लोग पाते हैं कि उनका देश गायब होता जा रहा है और वे एक ऐसी जमीन के निवासी हैं, जो दुनिया में कहीं नहीं है। मिथकीय लेमुरिया द्वीपों की तरह वे फिर से कब हासिल करेंगे अपने गायब होते देश को?"[55]

लेखक ने उपन्यास को डायरी में दर्ज किया है। जिस प्रकार डायरी लेखन में तिथिवत घटनाओं का विवरण दिया जाता है उसी प्रकार इस उपन्यास में भी तिथिवत घटनाओं को किशन विद्रोही की डायरी के माध्यम से दिखाया गया है। इसके अध्ययन से यह पता चलता है कि लेखक ने मुंडा आदिवासी की सांस्कृतिक परिदृश्य की मुकम्मल तस्वीर खींचने की कोशिश की है। किसी आदिवासी व्यक्ति की मृत्यु के बाद दाह संस्कार की परंपरा की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त होती है। इन सभी वर्णित घटनाओं का मुख्य केंद्र किशनपुर है। जिसका बहुत समय पहले से ही अपना एक इतिहास रहा है। इसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यहाँ की ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ,

[54]उप. पृ. 4.

[55]उप. फ्लैप से।

प्रकृति का खुलापन, यहाँ की हरियाली, तरह-तरह के वृक्ष, पलाश, सेमल, महुआ, साखू तथा कचनार की छाया, उतार-चढ़ाव इत्यादि ये सब मानव मन को आनंदित और आहलादित करती हैं। इन सब की वजह से "इस आत्मिक ऊर्जा के पावर हाउस का ही आकर्षण है कि जैन धर्म के चौबीस तीर्थकरों में से उन्नीस या बीस किशनपुर के पाश्वनाथ पहाड़ पर आते हैं और यहीं अरिहंत को प्राप्त करते हैं। यह पाश्वनाथ की पहाड़ी यहां के आदिवासी संतालों का मरांगबुरु है।"[56]

'गायब होता देश' उपन्यास में मुंडा समाज के पढ़े-लिखे लोग अपने समाज के बुद्धिजीवियों में ढलने की प्रक्रिया से गुजरतें दिखते हैं। डॉ. सोमेश्वर मुंडा ऐसे ही पात्र हैं जो उपन्यास में शुरू से ही एक बुद्धिजीवी के रूप में उपस्थित हैं। सोनामानी दी शिक्षिका हैं और अनुजा पहले एक सरकारी अफसर थी फिर ए.जी.ओ की कार्यकर्ता और फिर पत्रकार रही है। नीरज पालीटेक्निक पढ़ा है, वीरेन भी पढ़ा-लिखा है। इन पढ़े-लिखे मुंडा पात्रों का अपने समाज के संघर्षों के संगठनकर्ता बनने की प्रक्रिया किसी ख़ास घटना से शुरू होती है।पत्रकार किशन विद्रोही की हत्या की गुत्थी सुलझाने के क्रम में प्रशिक्षु पत्रकार राकेश को डायरी, जेरोक्स और अखबार के पन्ने हासिल होते हैं। इन पन्नों से किशन विद्रोही की त्रासदी की कथा की शुरुआत होती है। यही त्रासदी उपन्यास में 'सोना लेकन दिसुम' के गायब होते जाने की तकलीफ भी है।

पत्रकार किशन विद्रोही के माध्यम से मुंडा जनजाति की सभ्यता, संस्कृति और उनके इतिहास का वर्णन किया गया है। पत्रकार उस इलाके में जाता है जहां हाल ही में मुंडा आदिवासी के परमेश्वर पाहन को बंगला देश के युद्ध में निर्भीकता से लड़ने के कारण उसे स्वयं राष्ट्रपति के हाथों 'सैनिक परमवीर चक्र' प्राप्त हुआ। फिर वह सेवानिवृत्त होकर अपने गाँव एदलहातु आ जाता है और देखता है कि एक बड़ी कंपनी ग्रीन एनर्जी द्वारा दुलमी नदी पर बाँध बना कर मुंडा आदिवासियों की गाँवों को डुबो देने की योजना चल रही है। वह इसके शुरू होने से पहले ही

[56]उप. पृ. 1.

विस्थापन के विरोध में आंदोलन शुरू कर देता है। इससे नाराज होकर भ्रष्ट व्यवस्था पहले उसे नक्सलबाड़ी घोषित करती है और फिर एक दिन रात में इंस्पेक्टर कुंवर वीरेंद्र प्रताप के हाथों उसकी हत्या करवा दी जाती है। इसके बाद विकास और विस्थापन के नाम पर जंग शुरू होती है। भ्रष्ट पुलिस इंस्पेक्टर के. वी. पी. मुंडा ग्रामीणों के हाथों मारा जाता है। इसलिए पुलिस आदिवासियों के गाँवों को नक्सलवादी गाँव घोषित करती है और एतवा मुंडा, संजय जायसवाल, अमरेन्द्र मिश्र जैसे निर्दोषों को नक्सली घोषित कर एक-एक को मारती रहती है। इन समस्याओं तथा परमेश्वर पाहन की हत्या की गुत्थी सुलझाने के लिए किशन विद्रोही किशनपुर एक्सप्रेस के पत्रकार के रूप में मुंडा आदिवासियों के गाँव हिराहातु आते हैं।

किशनपुर एक्सप्रेस समाचार पत्र के माध्यम से दिखाना चाहता है कि आदिवासी क्षेत्र की सच्ची सूचनाओं को एकत्रित करने से लेकर समाचार छपने तक किस प्रकार पत्रकारों और संपादकों पर राजनीति का दबाव रहता है, "सरकारी घोटालों के धारावाहिकों से बरसे सोने की अशर्फियों ने पत्रकारिता जगत के बड़े-बड़े दिग्गजों को पेट के बल रेंगने वाले कीड़ों में तब्दील कर दिया था।"[57] लेकिन इससे विद्रोही पर कोई असर नहीं हुआ था। इन व्याख्यानों ने जननायक, बुध्दुबीघा और आंदोलन को तथा उनके त्याग और संघर्ष के संस्मरणों ने हृदय को लगातार ऊपर उठाते हुए श्रद्धा के स्तर तक पहुंचा दिया था। इन कारणों से मुंडा आदिवासी समुदाय को जन्म से अपराधी तथा नक्सली बताकर उन पर पुलिस द्वारा हमला किया जाता रहा है। आदिवासी अपनी हक की लड़ाई लड़ता है तो उसे नक्सली घोषित कर दिया जाता है।

देश को स्वतंत्र हुए लग-भग सत्तर वर्ष हो रहे हैं फिर भी आदिवासियों के जंगल और जमीन पर अतिक्रमण हो रहा है। भूमिअधिग्रहण का खेल आजादी के बाद से और भी तेजी से बढ़ रहा है। इसी वजह से आदिवासी विस्थापित ही नहीं बल्कि अपनी सभ्यता और संस्कृति से

[57]उप. पृ. 6.

कोसों दूर होते जा रहे है। आदिवासी इलाके में भूमिगत संपदा का गैर-आदिवासियों द्वारा खूब लाभ उठाया गया जैसे वीरेंद्र प्रताप सिंह, अशोक पोद्दार, सविता पोद्दार, निरंजन राणा, नवल पांडे आदि बहुत जल्दी आर्थिक रूप से संपन्न हो जाते हैं वहीं दूसरी ओर आदिवासी लगातार विस्थापन का शिकार होते जाते हैं। धीरे-धीरे आदिवासियों की अपनी पहचान समाप्त होती जा रही है। उनकी अपनी संस्कृति किशन विद्रोही पत्रकार की तरह समाज से गायब होती जा रही है। आदिवासी समुदाय की अपनी पहचान के प्रमाण है इसी कारण लेखक ने 'हिंदी महासागर' के माध्यम से बताया,

> तुमने कहाँ छुपा रखा है हमारे कुमारिककान्तं को, हमारा लेमुरिया, हमारी प्राचीन उर्वर मातृभूमि? क्यों तुमने हजारों साल पहले हमारे उनचास प्रान्तों को डुबो दिया, नौ सौ मील की भूमि निगल ली? कहाँ है हमारी प्राचीन नदी पहरुली? कुमारी नदी की सुनहरी धाराएं कहाँ खो गई? कहाँ गया अतुलनीय सौन्दर्य से पूर्ण पर्वत कुमारी?[58]

आदिवासी पात्र नीरज, वीरेन, अनुजा, सोनामानी दी के द्वारा अपनी सभ्यता, संस्कृति, जल, जंगल, जमीन बचाने के लिए लगातार की जा रही कोशिशों को बखूबी अभिव्यक्त करते हैं जबकि कौशलेन्द्र धर्माधिकारी अपनी रिपोर्ट के साथ-साथ किशनपुर की भूमि घोटाले से जुड़ी सारी खबरों को राष्ट्रपति भवन, अनुसूचित जनजाति आयोग, प्रधानमन्त्री कार्यालय जहां-जहां संभव हो सका वहां-वहां आधिकारिक पत्र भेज देते हैं। पूंजीपति वर्ग जमीन को कब्ज़े में लेने के बाद उस क्षेत्र के कुछ पढ़े-लिखे युवक-युवतियों को क्षणिक लाभ का प्रलोभन देकर काम करवाया जाता है जबकि काम के मुताबित श्रम (मूल्य) नहीं दिया जाता है। यहाँ तक कि गैर-आदिवासी लोगों को रहने के लिए अपार्टमेन्ट दिया जाता है पर आदिवासियों को नहीं। जैसे ही आदिवासी क्षेत्र में कंपनियां बनाई जाती हैं तभी से इन आदिवासियों का विस्थापन और प्रव्रजन बड़ी संख्या में शुरू हो जाता है। जो भी आदिवासी युवक इसके खिलाफ आवाज उठाता है उसे

---

[58]उप. पृ, 132.

नक्सली बता कर मार दिया जाता है। मुंडा आदिवासी समाज में वे कोई काम अकेले नहीं कर सकतें है। कृषि संबंधी काम हो या किसी का मकान बनवाना हो सभी एक साथ मिलकर एक दूसरे की मदद करते हैं। 'गायब होता देश' उपन्यास में यही सामूहिकता दिखाई देती है। आदिवासी समाज में औरतों को पुरुषों के बराबर का दर्जा मिलता है पर इस उपन्यास में बड़े स्तर पर पुरुषवादी संस्कृति या पितृसत्तात्मकता की झलक दिखाई देती है। इस सन्दर्भ में अनुजा और रमा में बातचीत चलती है, "मुझे इस पर गुस्सा आता है कि क्यों ये हमारी किस्मत है और यही हमारी सीमा कि हम यह देखते रहें कि पुरुषों की निगाहों को हम कैसे दीखते हैं । छुटपन में सचेत हो जाना पड़ा कि आखिर क्यों लड़के-मरद इतना गौर से ताकते रहते हैं।"[59]

उपन्यास में ऐसे कई पात्र हैं जो किशन विद्रोही की हत्या की गुत्थी को सुलझाने की कोशिश करते हैं और 'स्वयंसेवी संगठन' के द्वारा आदिवासी क्षेत्र के यथार्थ को जनता से रू-ब-रू करवाते हैं। साथ ही साथ उन लोगों पर अचानक गोली बारी शुरू हो जाती है और उन्हें मार दिया जाता है। जैसे वीरेंद्र दा, इतवा पाहन, जैसे पात्रों के साथ यही होता है। वहीं स्त्री पात्र को अगर देखा जाए तो सविता पोद्दार पहले तो आदिवासियों की शुभचिंतक बनती हैं फिर बाद में नेताओं की चापलूसी करके केंद्र में राज्यमंत्री बन जाती है। नरेश शर्मा चुनाव जीत कर राज्य में कैबिनेट मंत्री बन जाता है। डॉ सोमेश्वर मुंडा बचपन से ही पढ़ाकू किस्म के थे। हाईस्कूल में पूरी अंग्रेजी की डिक्शनरी रट गए थे और उन्होंने एन्थ्रोपोलॉजी, ज्योग्राफी में डिग्रियां हासिल भी की। सोमेश्वर मुंडा भी जयसवाल सिंह मुंडा की तरह विदेश जाकर पढ़-लिखकर आए थे। वे सत्तर के दशक में कैंब्रिज यूनिवर्सिटी पहुँचने वाले दूसरे आदिवासी थे। इसी काबिलियत को देखकर एक विदेशी लड़की रोजालिन उनसे शादी कर लेती है और बाद में सोमेश्वर मुंडा की प्रतिभा और ताकत का इस्तेमाल करके निकल भागती है। सोमेश्वर मुंडा अपने पुरखों के इतिहास और ज्ञान-

[59]उप. पृ. 267.

विज्ञान की लुप्त विरासत के पुनराविष्कार के क्रम में वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं। उस समय एक बड़ी राजनीतिक पार्टी द्वारा सोमेश्वर मुंडा के राज्य सभा के लिए किए मनोनयन को साजिश बताती है हालांकि उसमें सोमेश्वर मुंडा फंसते नहीं और अपने गाँव लौट कर जनांदोलन चलाने वाले साथियों का साथ देते हैं। उलगुलान किया जाता है और अंतरराष्ट्रीय लुटेरे डॉ.जेम्स और उसकी कई एकड़ में फैली आदिवासी गाँव की महत्वाकांक्षी परियोजना को समूल रूप से नष्ट कर दिया जाता है।

सोमेश्वर मुंडा ने लेमुरिया की कहानी किशन विद्रोही को सुनायी थी। कैसे मुंडा लोगों का मूल स्थान समुद्र में समा गया और इन लोगों के पूर्वजों का ढेर सारा ज्ञान भी उसी में समा गया। मुंडा लोगों ने धरती माता सरना माई, सिंगबोंगा से जो भी सीखा था उसे संजोकर रखा था। सबका सम्मान करना, कम में संतोष करना और ज्ञान बढ़ाना यही इनकी ज़िन्दगी का मकसद था। लेमुरिया का अपना एक इतिहास है। मुंडा आदिवासियों के इतिहास पर सोमेश्वर मुंडा ने बहुत काम किया था। मसना की ससनदरी और ससनदरी के पत्थर जिन पहाड़ों से लाए जाते हैं उनके बीच के संबंधों पर भी काम किया तथा प्रयोग से जुड़ें उनके अध्ययन के सारे कागज-पत्तर, डायरियां, नोट्स और बहुत कुछ काम की चीजों को एकत्रित किया और उसी तरह लिखा भी था। लेकिन उनकी अमेरिकी पत्नी रोजालिन सब लेकर भाग गयी। सोमेश्वर को कभी-कभी लगता था कि वह सब समझने बूझने और लूटने के लिए ही उनके साथ आई थी। इस विषय पर वह आज तक दुखी हैं। जिस स्त्री के कारण पूरे मुंडा समाज को नजरअंदाज किया गया, सैकड़ों बड़े-बुजुर्गों, संगी-साथियों सबके साथ धोखा खाया, लेकिन ताकत इकट्ठा करने वाले, धन इकट्ठा करने वाले ने उन्हें दुश्मन माना था। हज़ारों साल से यह दुश्मनी चल रही है इसी संबंध में आदिवासी समाज पर सदियों से हो रहे अत्याचार तथा भेदभाव पूर्ण रवैये से क्षुब्ध होकर उपन्यास का आदिवासी पात्र एतवा मुंडा एक गीत गाने लगता है। जिसमें वह ताप की तासीर को बदलने की बात कहता है-

किशन विद्रोही की हत्या होती है लेकिन लाश का न मिलना ये सब भ्रष्ट शासन तन्त्र का ही परिणाम है तथा उपन्यास के अंत में यह दिखाया गया है कि पत्रकार किशन विद्रोही की हत्या का राज एक चित्र के माध्यम से पता चलता है। पेंटिग से यह मालूम होता है कि विद्रोही की हत्या किसी और ने नहीं बल्कि उसके सगे-संबंधी यहाँ तक कि दादा-चाचाओं ने मिलकर की। यह भी हो सकता है कि गैर-आदिवासी द्वारा विद्रोही के परिवार को आधार बनाकर ये हत्या करवाई गई हो।

संक्षिप्त रूप में अगर कहा जाए तो यह उपन्यास मुंडा समुदाय के शोषण, लूट, उसकी पीड़ा, उसके संघर्ष से उपजे समाज पर केन्द्रित है। किशन विद्रोही के माध्यम से उपन्यासकार वंचितों की कथा-व्यथा की खोज-खबर देने के क्रम में यह बताना चाहते हैं कि आदिवासियों का संघर्ष कुछ वैसा ही है जैसा कि भारतीय जनता में ब्रितानी साम्राज्य था। आजादी के बाद भी आदिवासी इलाके में हो रहे विस्थापन तथा इससे उत्पन्न समस्याओं को आदिवासी किस तरह से झेलते है तथा जल, जंगल, जमीन के लिए अपनी जान की परवाह न करते हुए लड़ते रहते हैं। इस उपन्यास में लेखक ने स्पष्ट किया है कि इन आदिवासियों को नक्सलबाड़ी नाम से भी घोषित कर उन्हें जेल में बंद कर दिया जाता है। आदिवासियों की भाषा, संस्कृति, उनकी पहचान, उनकी संपत्ति यहाँ तक कि आदिवासियों का पूरा इलाका ही गायब होता जा रहा है।

2.8 डूब

वीरेंद्र जैन का डूब उपन्यास सदी के अंतिम दशक का प्रभावशाली उपन्यास है जो विकास की आड़ में उजड़े हजारों गांव की गाथा कहता है, जो कहीं न कहीं पूरी तरह से डूब चुके हैं। यह उपन्यास तीन तरफ से ढके पहाड़ और एक तरफ बहती बेतवा नदी जैसे भौगोलिक परिवेश में स्थित 'लडैई' गाँव की कहानी है। लेखक ने इसमें पिछड़े अंचल की पीड़ा को सशक्त रूप से चित्रित किया है तथा लेखक ने उस पहाड़ी अंचल को आधार बनाया है जो स्वतंत्र भारत की विद्युत परियोजनाओं के तहत 'डूब' क्षेत्र के अंतर्गत आ जाता है। इस उपन्यास की कथा बुंदेलखंड के बहाने पूरे भारत के सच को हमारे सामने उजागर कर देती है। मुख्य रूप से बुंदेलखंड अंचल में बसे ग्रामीण लोगों के सहज जीवन को उपन्यास में रूपायित किया गया है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सीमा पर बसे ललितपुर और गुना जिले में निर्माणाधीन राजघाट बाँध परियोजना की शुरुआत से लेकर आज तक का समय इस उपन्यास का कालखंड है। उपन्यास की कथा पहली डुबकी, दूसरी डुबकी और तीसरी डुबकी शीर्षक से तीन भागों में विभाजित है।

इस गाँव में साव (अमीर) लोगों के द्वारा गरीब लोगों को कर्जा दिया जाता है और वसूली के नाम पर उनका शोषण किया जाता है। कथा की शुरुआत गाँव के प्रभावशाली और लोकप्रिय अहीर माते के भावविश्व से शुरू होती है। माते गाँव के बनिया मोती साव को पंचायत चुनाव में सरपंच पद का परचा भरवा देते हैं। बनिया मोती साव राजनीति में सम्मिलित हो जाते हैं। जब मोती सेव जैसे जैन के द्वारा हिन्दुओं के पथरा बब्बा को पूजा जाता है तो बिरादरी में हडकंप मच जाता है। ठाकुर से भयभीत बिरादरी इस हंगामे का लाभ उठाकर मोती साव को बिरादरी से बाहर कर देती है। मोती साव के पास ठाकुर की जमीन गिरवी है। मोती के बाहर जाने पर ठाकुर पहले कागजातों की चोरी करवा देते हैं और आखिर में मोती साव का परिवार गाँव छोड़ देता है और ठाकुर का रास्ता साफ़ हो जाता है।

लडैई गाँव में सरकार प्राइमरी स्कूल खोल देती है जिसमें ठाकुर साहब मास्साब (मास्टर साहब) नियुक्त होते हैं। इस प्रकार गाँव में परिवर्तन का चक्र घूमने लगता है। ठाकुर देवीसिंह सरपंच के स्थान पर शैतान बनकर बैठ जाता है। उपन्यास की कथा आजादी के बाद राज्यों के पुनर्गठन के बाद के चुनाव से शुरू होती है। गांववाले वोट मांगनेवाली रानी साहिबा और हैलीकॉप्टर जैसे यंत्र को पहली बार देखते हैं। माते वोट देने का आश्वासन देता है तो रानी साहिबा सलज्ज की तरह सर झुकाए सुनती हैं। बेतवा नदी पर बांध बंधवाने का आश्वासन देकर वोट लूट लेती है लेकिन बांध नहीं बनता है। इस उपन्यास का पात्र माते पूरे गाँव की आत्मा के समान है। गाँव के झंझावत में मानवीय न्यायपूर्ण आत्मा की आवाज़ है। भोपाल में रहकर डॉक्टरी की पढ़ाई कर रहे अट्टूसाव आजादी का महत्त्व गांववालों को समझाते हैं। साहुकारों, जमींदारों और ठाकुरों के शोषण के खिलाफ़ आवाज़ उठाने के लिए प्रेरित करते हैं। इस पर इनके पिताजी मंझले साव उन्हें पीट देते हैं।

उपन्यास की दूसरी डुबकी की कथा मास्साब की दुविधा से शुरू होती है। मास्साब मन में सोचता है कि अगर माते को बोलना आता तो इसकी दुविधा का हल निकलता। गाँव के चन्द्रभान की बेटी अक्कल का कुंवारे में मां बन जाना सबको चकित कर देता है। अनेक सिंह अक्कल के साथ विवाह करता है तब आशीर्वाद देते हुए मास्साब इसे कहते हैं,

> बेटा, आज तूने मेरी गुरुदक्षिणा दे दी। मुझे नाज है तुझ पर। अट्टू के बाद तू ही मेरा सच्चा शिष्य निकला। पर देख, अट्टू की तरह गाँव से डरकर भागना नहीं। यहीं रहकर सब संकटों का, लक्षणों का मुकाबला करना...और मैं भी कम किस्मत का धनि नहीं, तभी तो तुझ जैसा शिष्य मुझे मिला।[60]

लुहार बहु गोराबाई, अट्टू के बचपन के मित्र की पत्नी है। एक जनखे से ब्याही गोराबाई एक नाजायज बच्चे को अपना कहकर पालती है। ताकि यह भेद न खुल जाए कि वह बच्चा उसका

[60]वीरेन्द्र जैन, डूब, पृ. 104.

नहीं है। गोराबाई का चरित्र एक वीरांगना के समान है। लेखक अलग-अलग पात्रों के माध्यम से अटूट प्रेम को भी अभिव्यक्त करते हैं।

उपन्यास का तीसरा खंड है- तीसरी डुबकी। इंदिराजी आखिरकार राजघाट परियोजना की आधारशिला रखती हैं। माते को शक होता है कि बांध इस बार भी नहीं बनेगा। प्रस्तुत उपन्यास में गाँव और राष्ट्रीय राजनीति के चुनावी तामझाम तो दिखाई देते हैं; लेकिन संगठित नियोजित योजना के बजाए स्वतः स्फूर्त कोशिशों की आहट सुनाई पड़ती है। उपन्यास में सरकार द्वारा बांध परियोजना के लिए कृषि योग्य भूमि ले ली जाती है और गाँव के रिहायशी इलाके को छोड़ दिया जाता है। किसानों के पास पैसा आता है तो साहूकार अपने पुराने कर्ज लेकर जिले के शहर ललितपुर, झाँसी, बिनाया और भोपाल जा बसते हैं। परियोजना के लिए पानी एकत्रित कर ऊँचाई पर पहुंचाकर फिर नीचे की ओर गिराना है। ताकि बिजली तैयार हो सके। लडैई पर बाढ़ का निरंतर हमला होगा। इस आशा से कई साहूकार इस ताक में रहते हैं कि लोग गाँव छोड़कर भागे और सस्ती जमीनें खरीदकर सरकार से ऊँचा मुआवजा ग्रहण करें। उपन्यास में घुरे साव यही जमीन अपने नाम करवाने के लिए तहसीलदार से मिलते हैं। आपातकाल में लोगों की नसबंदी का सिलसिला शुरू होता है और उसके बदले में अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में विस्थापन की समस्या के साथ अन्य छोटी-छोटी घटनाओं को भी गुम्फित किया गया है। जैसे नेताओं के कारनामों के साथ इस उपन्यास में दलित चेतना का स्वर भी सुनाई देता है। ठाकुर देवीसिंह के द्वारा मजदूरी न देने पर चमार घूमा अपनी आवाज उठाता है। तब ठाकुर उसकी बस्ती का जीना बेहाल कर देता है उसके भाई की निर्मम हत्या कर दी जाती है। घूमा अपने भाई की मौत का बदला लेने के लिए जीते जी भूत बन जाता है। समस्त चमार टोली संघर्ष करती है। मगर गाँव की मजबूत शक्तियां उन्हें कुचल देती हैं। इसी प्रकार बामन महाराज का बेटा कैलाश अहीर चंद्रभान की बेटी से जबरदस्ती करता है। कैलाश का

बच्चा उसकी कोख में पलने लगता है, तब चन्द्रभान इंसाफ, न्याय की मांग करता है। यहाँ से स्त्री शोषण भी उभरता है। उपन्यास के अंत में सरकार को छल-कपट के रूप में दिखाया जाता है। उदाहरण,"लाबरी है जा सरकार, महा लाबरी! महा झूठी, सरासर झूठी!"[61]जो अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए आम जनता से बस वोट की आकांक्षी होती है।

[61]वीरेन्द्र जैन, डूब, पृ. 289.

2.9 पार

वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'डूब' का ही अगला भाग 'पार' है। 'पार' उपन्यास आदिवासी समाज के विस्थापन पर लिखा गया है। जिसमें 'डूब' उपन्यास की कथा को ही विस्तार दिया गया है। कथा में 'बेतवा नदी' के पार के जंगलों में रहनेवाले आदिवासियों के जन-जीवन को कथा के सूत्र में पिरोया गया है। गांव वाले इन आदिवासियों को असभ्य समझते हैं वहीं दूसरी ओर ये आदिवासी भी गाँव वालों को स्वयं से उंचा मानते हैं और सम्मान देते हैं। जब बांध बनने की प्रक्रिया शुरू होती है तब इनका एकमात्र सहारा 'जंगल' भी छीन लिया जाता है। अर्थात् जंगल की कटाई शुरू हो जाती है। ऐसी विषम परिस्थितियों में इन आदिवासियों के पास गाँव वालों के ऊपर निर्भर होने के अलावा शेष विकल्प नहीं रह जाता। जब ये आदिवासी अपनी जीविका के लिए गाँव वालों पर निर्भर होते हैं तो गाँव के साहूकार इनसे लाभ कमाने का अवसर खोजने लगते हैं। साहूकार अपने लालच को पूरा करने के लिए इनका शोषण करना शुरू कर देते हैं।

लेखक ने उपन्यास में शोषण की उस भयावह स्थिति को दिखाया है जहां आदिवासी औरतों को शहरों में बेच दिया जाता है। इस समस्या के साथ-साथ लेखक ने कथा में पाठकों का नवीन संस्कृति से भी परिचय कराया है। मसलन आदिवासियों का रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, खेल, उत्सव, अंधविश्वास आदि पूरी जीवंतता के साथ उपन्यास में वर्णित किये गए हैं। साथ ही आदिवासियों के सरल और सहज स्वभाव का फायदा शहर के पढ़े-लिखे लोग किस प्रकार उठाते हैं। इसे भी दिखाया गया है। उपन्यास में स्त्री पात्रों के अंतर्गत मुइया और फुलिया एक खास जाति की अस्मिता का प्रतिरूप हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। इन पात्रों का व्यवहार, इनकी आकुलता, इनकी विषमताएं बेहद मार्मिक जान पड़ती हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने मुखिया के चरित्र को विशेष प्रकार से उभारा है जो अपनी परम्परा और धर्म पर अडिग है परंतु अमानवीय नहीं है। यही कारण है कि वह जंगल के कटने पर दुखी होता है। वह स्थिति से भली-भांति परिचित है कि जंगलों के कटने पर उनकी क्या दुर्दशा होगी। उसके हृदय में बार-बार यह प्रश्न कचोटता है कि शहर वालों की नजरों में वह आदमी (इंसान) ही नहीं है। इसलिए उनके साथ जानवरों जैसा व्यवहार होगा। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि इन आदिवासियों का विकास परियोजनाओं के नाम पर किस तरह का शोषण होने जा रहा है उसकी इन्हें कोई जानकारी नहीं रहती। वे इस तथ्य से बिल्कुल अनभिज्ञ रहते हैं। वीरेन्द्र जैन ने उपन्यास में आदिवासियों के दुःख को लयात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है जिसे सभ्य समाज के लोगों ने कभी नहीं महसूस किया। उपन्यास में अरविंद पाण्डेय, रामदुलारे, यशस्विनी जैसे पात्र एक उम्मीद भरे स्वर के साथ कथा में उभरते हैं और अंत में एक प्रश्न के साथ पाठक को छोड़ देते हैं कि विकास किस कीमत पर? और विकास के नाम पर हो रहे विनाश का जिम्मेदार कौन है? साहूकार, प्रशासन, राजनीति अथवा सरकार।

2.10 देश निकाला

धीरेन्द्र अस्थाना का उपन्यास दे *निकाला* संक्षिप्त रूप में मुम्बई के फ़िल्मी जगत की कहानी कहता है। उपन्यास की कहानी रंगमंच से जुड़े एक युगल की है, जिनकी उम्र चालीस के आस-पास है। उपन्यास के नायक नायिका दोनों 'लिव इन रिलेशन' में रहते थे और कुछ दिन लिव-इन में साथ रहने के बाद फिलहाल अलग-अलग रह रहे हैं। नायिका रंगमच के समक्ष फ़िल्मी दुनिया को जीवन के लिए स्वीकार नहीं करती है और कुछ समय बाद उस दुनिया से निकलकर एक अर्से से वह ट्यूशन पढ़ाने में व्यस्त हो जाती है। जबकि नायक अपने आदर्शवाद को मानते हुए और कुछ दिन फिल्मी दुनिया में कथा लेखन जारी रखता है और अपने भाग्य को आजमाने का काम करता है। अपने-अपने कार्यकलापों के मध्य दोनों का आपस में मिलना-जुलना भी जारी रहता है परंतु उनकी कोई भी मुलाकात उनके रिश्ते में एक एहसास पैदा करने में नाकामयाब रहती है। संयोग से एक बार नायक की कोई चीज फिल्मी दुनिया के एक नए फार्मूले की भांति काम कर जाती है और जिंदगी की राह आसान होने लगती है।

उपन्यास का नायक 'गौतम सिन्हा' धीरे-धीरे आर्थिक रूप से सक्षम होने लगता है। अब गौतम को अपनी संपत्ति के लिए वारिस की चिंता घेरने लगती है। तब वह नायिका मल्लिका को फोन करता है, नायिका को शुरू में यह बेतुकी सी बात लगती है और वह असहज महसूस करता है लेकिन संयोग से उसी समय किसी और नए फार्मूले में उसके अभिनय के लिए भी जगह निकल आती है। सारी कथा किसी परीलोक जैसी चलती है। इधर फिल्म में उसे काम मिलता है उधर इसी खुशी में वह मां बनने की राह पर निकल पड़ती है। करीयर या बच्चा दोनों में से किसका चुनाव करे? ऐसे दुविधा वाले कुछ क्षण भी आते हैं लेकिन यह टकराव जानलेवा नहीं बनता। अपनी दूसरी फिल्म में ही, जब वह प्रसिद्धि और उत्कृष्टता के चरम पर होती है, तो उसे छोड़कर वह अपने ट्यूशन और अपनी बेटी की दुनिया में ही मगन रहने का फैसला लेती है। एक समय का

आदर्शवादी नायक अब फिल्मी दुनिया की अंतरंग महफिलों और राजनीति का हिस्सा बन चुका है। नायिका का फैसला उसे उचित नहीं लगता है। इसलिए उनके रहने की संभावना एक बार फिर समाप्त हो जाती है और मां-बेटी अपने 'देशनिकाले' की लय को तलाशती हुई जीवन में आगे बढ़ने लगती हैं। यह उपन्यास दरअसल राजेंद्र यादव और धीरेंद्र अस्थाना के साझा प्रयास के रूप में लिखा जाना था। अपने हिस्से के दस-बारह पन्ने लिखकर राजेंद्र जी ने दिल्ली से धीरेंद्र जी के पास मुंबई भेजे भी लेकिन वहां जिस मुकाम से रचना आगे बढ़ी उसका कोई तरल संबंध शुरुआती हिस्से के साथ नहीं बन पाया। फिर धीरेंद्र जी को शुरुआती हिस्सा भी नए सिरे से लिखना पड़ा। रचना इस रूप में भी दिलचस्प है। भाषा में पत्रकारिता की रवानी है।

उपन्यास की कथा एक जीवन-संघर्ष को सामने लाती है जिसमें सफलता पाने के लिए एक प्रतियोगिता चल रही है। गौतम और मल्लिका दोनों अपने-अपने व्यक्तित्व और अस्मिता को बनाने के लिए प्रयासरत रहते हैं। गौतम में धीरे-धीरे पुरुष वर्चस्व का मोह जाग्रत होने लगता है जिसके कारण दोनों अलग हो जाते है। मल्लिका अपने अंतरंग के लिए भौतिक सुखों और उपलब्धियों को त्याग देती है। मल्लिका के मन में हमेशा यह कसक रहती है कि गौतम व्यवसाय में जाने के बाद संवेदना शून्य हो गया है।वह यह समझ नहीं पाती है कि गौतम उसे और उसकी बेटी को अपनी अलग पहचान के साथ जीने का हक क्यों नहीं देना चाहता है। क्या कारण है कि हम दोनों गौतम की दुनिया में होने के बावजूद उसकी दुनिया से बाहर ही रहते हैं। जैसे कि, "गौतम की दुनिया से उन दोनों को देश निकाला मिला है! कैसे समझाए इत्ती सी बात चीनू को, कि औरत अगर अपने मन मुताबिक जीना चाहे तो देश निकाला ही मिलता है।" [62] उपन्यास का नायक गौतम मल्लिका के साथ रहता अवश्य है पर मल्लिका को ये आभास होता है कि गौतम ने

[62]धीरेन्द्र अस्थाना, देश *निकाला*, पृ. 123.

सामाजिक और क़ानूनी क्रियाओं को तो अपनाया है, पर शायद हमारे प्रति अपनी जिम्मेदारियों को निभाना भूल गया।

लेखक उपन्यास की कथा में मुंबई में आई बाढ़ का भी बहुत मार्मिक चित्रण करता है। उपन्यास में उदारीकरण की चर्चा करते हुए लेखक ने शहरों के परिवर्तन की भी बात कही है। जहां बाबरी मस्जिद के कारण हुई हिंसक घटना का भी जिक्र दिखाई देता है। गौतम के साथ उसने जो जीवन बिताया, उन पलों की याद के रूप में उसके पास चीनू बेटी होती है। उपन्यास के अंत मे लेखक लिखता है, "यह दो स्त्रियों का ऐसा अरण्य था जिसमें परिंदा भी पर नहीं मार सकता था।"[63] उपन्यास के अंत में मल्लिका एक संकल्प के साथ जीवन में आगे बढ़ने का निर्णय लेती है और मल्लिका के इस निर्णय को उसके जीवन का नवीन प्रस्थान बिंदु दिखाया गया है।

[63]धीरेन्द्र अस्थाना, देश *निकाला*, पृ. 124.

तृतीय अध्याय

प्रव्रजन की अवधारणा

और

समकालीन हिंदी उपन्यासों में प्रव्रजन की समस्या

प्रव्रजन की अवधारणा

मनुष्य एक गतिशील प्राणी रहा है जिसने ज्ञान और अनुभवों के आधार पर अपनी समस्याओं को सुलझाने और जीवन को बेहतर बनाने का प्रयत्न समय-समय पर किया है। यह प्रक्रिया प्राचीन समय से रही है। प्रव्रजन मूलतः परिवर्तन की एक व्यवस्था है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलू समाहित हैं। चूंकि समाज और संस्कृति में सदैव परिवर्तन होता रहा है इसलिए प्रत्येक समाज में चाहे-अनचाहे यह प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहती है। विश्व में ऐसा कोई समाज नहीं है, जो परिवर्तन से अछूता रहा हो। हालांकि सभी समाजों और कालों में परिवर्तन का स्वरूप अलग-अलग अवश्य रहा है प्रव्रजन या अप्रवास मुख्य रूप से एक सामान्य क्रिया है, जो मानव आबादी के एक स्थान से दूसरे स्थान अथवा क्षेत्र की ओर गतिशीलता को अभिव्यक्त करती है। जिसका संबंध मनुष्य की स्थितियों से होता है। प्रव्रजन के कारण ही मानव आबादी की अंत:क्रिया हुई और विराट मानव संस्कृति का विकास हुआ। कैनथ कानेयर के अनुसार, "प्रव्रजन अंशत: स्थाई रूप से व्यक्तियों के समूहों द्वारा एक भौगोलिक क्षेत्र से दूसरे भौगोलिक क्षेत्र में किया जाता है। जिसके विषय में पूर्व से ही व्यक्तियों द्वारा मूल्यों के संचरण के आधार पर निर्णय लिया जाता है, जो

अंत में प्रव्रजकों की आपसी अंतर्क्रिया के रूप में प्रकट होता है।"[64] जीवन पद्धति की अवधारणा व्यक्ति एवं समाज दोनों संदर्भों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

प्रव्रजन ने जहां एक ओर मानव और समाज के लिए नया रास्ता और नयी-नयी खोज पैदा की हैं वहीं इसने मानवता को काफ़ी हद तक नुकसान भी पहुँचाया है। जनसंख्या के प्रव्रजन का इतिहास अत्यंत प्राचीन एवं विश्वव्यापी रहा है। यदि इतिहास की ओर देखें तो ऐसा विदित होता है कि ईसापूर्व आर्य मध्य और पश्चिम एशिया से आकर भारतीय उपमहाद्वीप में बसे। कुछ ऐसी ऐतिहासिक घटनाएं है जो इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं कि देश और विश्व में प्रव्रजन की क्रिया प्राचीन समय से विद्यमान रही है। समय के साथ-साथ उसके स्वरुप में परिवर्तन आया है। मसलन,7वीं शताब्दी में जब तुर्कों और अरबों ने ईरान पर बर्बर आक्रमण किया तो चारों ओर हिंसा फ़ैल गयी।साम्राज्य के पतन के बाद पारसी समाज के लोगों ने लाखों की संख्या में भारत में प्रव्रजन किया।मध्यकाल में अंग्रेज एवं फ्रांसिसी उत्तरी अमेरिका एवं ऑस्ट्रेलिया की ओर प्रवासित हुए। स्पेनी एवं पुर्तगाली दक्षिणी अमेरिका में बसे। यहूदी एवं अरबी लोग उत्तरी अफ्रीका एवं अरब से यूरोप में जा बसे। इस तरह विभिन्न देशों के इतिहास में प्रव्रजन की ऐसी अनेक घटनाएं देखने को मिलती हैं। इस्लाम के आगमन के बाद यहूदियों की मुश्किलें भी बढ़ने लगीं। तुर्क और मामलुक शासन के समय यहुदियों को इसराइल से प्रव्रजन करना पड़ा।

दूसरे विश्युद्ध में भी लाखों यहूदी और जर्मन लोगों को प्रव्रजन के लिए विवश होना पड़ा। 1948 से 1950 के मध्य चीन और ताइवान के बीच तनाव बढ़ने से लाखों की संख्या में लोगों का प्रव्रजन हुआ। तिब्बत के कुछ लोग चौदहवें दलाईलामा के आदेश का पालन करते हुए कई वर्षों से भारत में रह रहे हैं। इसी प्रकार जब पूर्व अफगानिस्तान पर अमरिका का हमला हुआ, तो लोगों ने पाकिस्तान की ओर प्रव्रजन किया। भारत-विभाजन की घटना के बाद भी बड़ी संख्या में हिंदू और सिख भारत आए और उतनी ही बड़ी संख्या

[64] Kenneth C. W. Kaneyer, *Population Studies: Selected Essays and Research*, p. 175.

में लोग भारत से पाकिस्तान गए। श्रीलंका से भारत की ओर प्रव्रजन करने वालों की संख्या भी कुछ कम नहीं रही है। 1970 में श्रीलंका में चरमपंथ की शुरुआत के समय बड़ी संख्या में लोग भारत आए।

भूमंडलीकरण के इस दौर में प्रव्रजन की समस्या कम व्यापक नहीं है। प्रव्रजन एक जटिल किंतु आधारभूत सामाजिक प्रक्रिया है, जटिल सामाजिक प्रक्रिया होने के साथ-साथ प्रव्रजन में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लक्ष्य भी निहित होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के जनांकिकी शब्दकोष के अनुसार, "देशांतर निवास स्थान को परिवर्तित करते हुए एक भौगोलिक ईकाई से दूसरे भौगोलिक इकाई में विचरण का एक प्रकार है।"[65]

थियोडोर केप्लो कहते हैं, "ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों की ओर जाने वाली जनसंख्या के प्रव्रजन के पीछे मूल कारण कार्य, रोजगार अथवा व्यवसाय की तलाश है।"[66]

वेबस्टर डिक्शनरी के अनुसार, "प्रव्रजन शब्द को कई अर्थों में समझा गया है शाब्दिक रूप में इसका अर्थ है एक व्यक्ति या एक सांस्कृतिक क्षेत्र या किसी व्यक्ति के निवास स्थान से दूसरे व्यक्ति के समूह का स्थानान्तरण।"[67]

रोबिन कोहेन के अनुसार, "प्रव्रजन का मूल और गंतव्य के क्षेत्रों की जनसंख्या के आकार पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और इसलिए वह अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक संरचना से जुड़ा होता है।"[68]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रव्रजन व्यक्ति अथवा समूह के एक भौगोलिक सीमा से दूसरे भौगोलिक सीमा में कुछ उद्देश्यों को लेकर गमन की प्रक्रिया है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएं अंतर्निहित होती हैं। व्यावहारिक और सार्वभौमिक घटना के रूप में प्रव्रजन के मुख्यतः दो रूप होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय प्रव्रजन और अंतर्राज्य प्रव्रजन।

---

[65]डॉ. वी.सी. सिन्हा, भारतीय अर्थव्यवस्था (Indian Economy), पृष्ठ, 40

[66]https:/www.ncert-solutions.com

[67]Massa Chusells, Websters Third New Internationl Dictionary, vol.ii, 1966, p. 1432.

[68]"Migration has a direct impact on the population size, areas of origin and destination and hence is indirectly linked to social structure." Robin Cohen, *The Sociology of Migration*, p. 275.

अंतर्राष्ट्रीय प्रव्रजन एक राष्ट्र की सीमा को पार करना या समुद्र पार प्रव्रजन करने से संबंधित है जबकि अन्तर्राज्यीय प्रव्रजन (आंतरिक प्रव्रजन) के अंतर्गत राष्ट्र की सीमाओं के अंदर ही प्रव्रजन करना सम्मिलित होता है।

प्रव्रजन की समस्या से अधिकांशत: विकासशील देश ग्रसित हैं चूंकि सुविधाओं के अभाव में लोग बेहतर जिन्दगी की तलाश में दूसरे देशों की ओर उन्मुख होते हैं। एक कार्यक्रम के दौरान प्रो. केदारनाथ सिंह ने कहा था,

> औपनिवेशिक काल से शुरू हुआ माइग्रेशन का सिलसिला वैश्वीकरण के दौर में और तेज हो गया है। जब किसी समाज के लोग माइग्रेट करते हैं तो अपने साथ अपनी संस्कृति भी ले जाते हैं लेकिन कालांतर में उनकी भाषा खत्म होती जाती है और अपनी जड़ के बारे में नई स्मृति पैदा होती है। उनके पास धन और संपदा सब कुछ होता है लेकिन खोने का एहसास भी गहरा होता है। इस कमी को लोग अपनी संस्कृति से पूरा करना चाहते हैं। मारीशस, ट्रीनिदाद आदि देशों में बसे भारतीय अपनी जड़ें तलाशने में लगे हैं लेकिन उनकी भाषा बदल गई है। उनके यहां सत्यनारायण की कथा अंग्रेजी में होती है। भाषा के इस अभाव के चलते वहां के लोग सांस्कृतिक विक्षोभ का जीवन जी रहे हैं।[69]

यह समस्या सिर्फ विकासशील देशों की नहीं है अपितु कई बार यह भी देखा गया है कि विकसित देशों के लोग दूसरे विकसित देशों की ओर भी जा रहे हैं। इंटरनेशनल ऑर्गेनाइजेशन फॉर माइग्रेशन के प्रवक्ता जोई लोवरी ने तो यह भी कहा है, “ऐसा नहीं है कि लोग पिछड़े व अविकसित देशों में प्रव्रजन कर रहे हैं बल्कि विकसित देश के निवासी भी विकासशील देशों में निवास करना पसंद कर रहे हैं।”[70]

भूमंडलीकरण के इस दौर में एक विशेष प्रकार का आकर्षण है जो लोगों को अपनी और आकर्षित कर रहा है नित नए लुभावने सपने दिखाकर एक माया जाल बुना जा रहा है जिसकी ओर युवा वर्ग सबसे अधिक आकर्षित है। भारत में यह समस्या और अधिक गहरी है क्योंकि यहाँ

---

[69]विस्थापन से दुनिया और संस्कृति बनी. https://www.amarujala.com/uttar-pradesh/varanasi

[70]radioaustralia.net.au>international

अंतर्देशीय प्रव्रजन बहुत बड़े स्तर पर हो रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में विकास को शहरीकरण तक सीमित कर दिया गया है, जबकि विकसित देशों की श्रेणी में आने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में भी बुनियादी विकास की आवश्यकता है। ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर प्रव्रजन करना मूलतः बुनियादी सुविधाओं को पाने की ही लालसा है। हालांकि ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर प्रव्रजन का इतिहास काफी पुराना है, परन्तु वर्तमान समय में जैसे-जैसे शहरीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो रही है, गांव निरंतर पिछड़ने का एहसास कर रहे हैं। शहरों की ओर प्रव्रजन का एक दूसरा कारण भी है, 'भेदभावपूर्ण सामाजिक व्यवस्था'। जो आज भी हमारे समाज में विद्यमान है। इसी सामाजिक व्यवस्था को देखते हुए गाँधी जी ने अपने सत्याग्रह का एक रूप 'हिजरत' रखा था। हिजरत का तात्पर्य है कि व्यक्ति अपनी इच्छा से अपना स्थाई निवास स्थान छोड़कर चला जाए। इसका प्रयोग उन लोगों के लिए बताया गया, जो यह महसूस करते हैं कि उनका शोषण हो रहा है और वे अपने आत्मसम्मान की रक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें शक्ति का अभाव है। प्रेमचंद भी अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' में गांव छोड़कर शहर जाने की समस्या को उठाते हैं। प्रव्रजन का एक रूप और है 'बंधुआ मजदूरी'। यह सामन्ती समाज की मुख्य विशेषताओं में से एक है। इस प्रणाली को कुछ शक्तिशाली वर्गों ने कमजोर तबके के शोषण के लिए तैयार किया है। भूमंडलीकरण भी आपसी निर्भरता का एक तंत्र ही है।

भारत एक विशाल जनसंख्या वाला देश है जहां अशिक्षा, गरीबी व बेरोजगारी तीन ऐसे मुख्य कारण हैं जो प्रव्रजन की ओर लोगों को उन्मुख करते हैं। वर्तमान समय में कोरोना के संकट के दौरान प्रव्रजन की विभीषिका को देखते हुए एक मुख्य पक्ष और सम्मिलित हो गया है 'महामारी'। समय-समय पर विचारकों ने प्रव्रजन के कारणों को जानने का प्रयास किया है जिसके अंतर्गत उन्होंने देश और समाज का गहन चिंतन किया है। वर्तमान समय में प्रव्रजन को केवल एक तथ्य के रूप में ही नहीं अपितु एक भौतिक आंदोलन के रूप में देखा जा रहा है।

जन्म, मृत्यु और प्रव्रजन किसी भी देश की जनसंख्या को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। किसी समाज में बाहर से व्यक्तियों का आगमन अथवा उस समुदाय से बहिर्गमन को ही संक्षेप में पलायन अथवा प्रव्रजन कहा जाता है। प्रव्रजन एक महत्वपूर्ण घटना है जो जनसंख्या के आकार, वितरण तथा संरचना को शीघ्र प्रभावित करती है। बीगर के अनुसार,"सामान्य जनसंख्या वितरण तथा उपलब्ध जन शक्ति के उपयोग की व्यवस्था से प्रव्रजन एक अनिवार्य तत्व है।"[71] इसमें किसी प्रकार की निश्चितता नहीं होती है तथा इसको मापना या अनुमान लगाना संभव नहीं होता। यही कारण है कि व्यक्तियों के एक बड़े समूह का एक साथ स्थानान्तरण हो जाए तो इससे देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन आने लगता है। प्रव्रजन का आर्थिक, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं, भौतिक पर्यावरण की प्रकृति, समूह के सामाजिक संगठन आदि से गहरा संबंध होता है।

21वीं सदी में नयी वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ भूमंडलीकरण के दौर में प्रव्रजन की प्रक्रिया में तीव्रता आई है। निजीकरण के इस युग में देश में शहरों एवं गांवों के मध्य आर्थिक विषमता अधिक गहरा गयी है, यही कारण है कि प्रव्रजन की गति भी बढ़ी है। जैसे-जैसे तकनीकि और उद्योगों का विकास हुआ ग्रामीण लोगों के लिए शहर केंद्र बनते चले गए। धीरे-धीरे शहरों में अनेक प्रकार की व्यापारिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक व अन्य क्रियाओं का विस्तार होता गया और लोग शहरों की तरफ आकर्षित होने लगे। मार्शल मैक्लूहान ने 'ग्लोबल विलेज' का उल्लेख करते हुए विचार किया था कि आज के समय में संसार के विभिन्न साधनों की वजह से गाँव-गाँव और दूर-दराज तक सभी खबरें पहुँच जाती हैं। सभी आपस में जुड़ गये हैं दूरियाँ खत्म हो गई हैं, इसी को हम भूमण्डलीकरण का ही रूप कहते हैं। ऐसा भी नहीं कि इसका असर सिर्फ आर्थिक

[71]"Migration is a necessary element of normal population redistribution and an arrangement for making use of the available manpower." H.C upreti, *Social organization of Migrant Group*, p. 3.

क्षेत्र पर पड़ा है बल्कि जीवन का कोई भी पहलू इससे अछूता नहीं रहा है। यही कारण है कि आर्थिक कारणों के अतिरिक्त सामाजिक, सांस्कृतिक व भौगोलिक कारण भी प्रव्रजन की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं साथ ही यातायात के साधनों के तीव्र विकास एवं सुगम व्यवस्था ने प्रव्रजन की प्रक्रिया को सरल, शीघ्र एवं सुलभ बना दिया है।

3.1 प्रव्रजन के मुख्य कारक

देश में प्रव्रजन के अनेक कारक मौजूद हैं किन्तु मुख्य रूप से तीन कारकों की चर्चा की जाती है। बेहतर शिक्षा, बेरोजगारी और गरीबी। इन तीन कारणों को प्रव्रजन के केंद्र में रखा जाता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में विदेश गमन की प्रक्रिया में भी तेजी आई है जहां मुख्य रूप से उच्च शिक्षा और आर्थिक स्थिति को और अधिक मजबूत करने के लिए व रोजगार के बेहतर अवसर तलाशने के लिए लोग विदेशों का रुख करते हैं। अमर्त्य सेन लिखते हैं, "जीवन की दुरावस्था का अभिप्राय केवल व्यक्ति की गरीबी ही नहीं, बल्कि सामाजिक, वैयक्तिक बाधाओं के कारण जीवन-शैली के चयन के वास्तविक अवसरों के अभाव से भी है।"[72] जब भारत ब्रिटिश सत्ता का गुलाम था, तो एक बड़े पैमाने पर मॉरिशस, त्रिनिदाद, फ़िजी, गयाना, बर्मा, सूरीनाम आदि देशों में भारतीयों को मजदूर बनाकर भेजा गया और बाद में वे वहीं प्रवासी बनकर रह गए। ब्रिटिश शासकों ने गरीब भारतीयों को लुभावने सपने दिखाकर उन्हें मजदूर बनाकर विभिन्न देशों में भेजा, जहां उनकी दशा अत्यंत दयनीय थी।

वर्तमान समय में लोग बढ़ती बेरोजगारी और गरीबी के कारण गांवों से शहरों की ओर रुख कर रहे हैं। भारत का संविधान (अनुच्छेद 19) सभी नागरिकों को भारत की सीमा में पूरी

[72]अमर्त्य सेन, *भारत विकास की दिशाएँ,* पृ. 20.

आज़ादी से आने-जाने व भारत की सीमा में रहने तथा बसने का अधिकार देता है इसलिए प्रव्रजन की प्रक्रिया पर रोक लगाने का प्रावधान नहीं है और किसी हद तक यह संभव भी नहीं है। चूंकि मनुष्य एक गतिशील प्राणी है और आंतरिक प्रव्रजन मुख्य रूप से लोगों की क्षमताओं का विस्तार करता है। बेहतर आय, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के अर्थों में मानव विकास में योगदान करता है, परन्तु यह पहलू उसके पारिवारिक जीवन से जुड़ा होता है, चूंकि समस्याओं का जन्म वहां से होता है, जहां प्रव्रजन कर्ताओं की संख्या बढ़ती चली जाती है क्योंकि इससे क्षेत्रीय असंतुलन भी बढ़ता है।

जैसाकि प्राचीन समय से ही लोग परिवारों, जनजातियों, भीड़ और अन्य रूपों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रव्रजन कर रहे हैं। भोजन, आश्रय, सुरक्षा और अन्य कारणों के चलते लोग सामाजिक समूह के रूप में अन्य स्थानों पर जाते रहे हैं। प्रव्रजन का यह आंदोलन एक प्रकार से सार्वभौम घटना रही है। वर्तमान समय में अंतर अवश्य आया है। संचार के विस्तारीकरण और परिवहन की सुविधाओं ने प्रव्रजन की संभावनाओं को बढ़ाया है। भारत जैसे देश में सांस्कृतिक क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के बीच प्रव्रजन के समाजशास्त्रीय पहलू का अध्ययन करना महत्वपूर्ण है, जहां भौगोलिक-काल और सांस्कृतिक समूहों की विविधता पाई जाती है। औद्योगीकरण और शहरीकरण ऐसे दो प्रमुख कारक हैं, जिसने देश के भीतर प्रव्रजन की प्रवृत्ति को अत्यधिक बढ़ाया है। एम. एस. ए. राव लिखते हैं कि आर्थिक विकास और जनशक्ति नियोजन का एक प्रमुख घटक प्रव्रजन होता है।[73] प्रव्रजन के साथ अनेक समस्याएं जुड़ी हुई हैं। सामाजिक नियंत्रण के तरीके, सामाजिक कार्यक्रमों के उत्सव जैसे विवाह, जन्म आदि संस्कार। मृत्यु भी प्रव्रजन से प्रभावित होती है। इसलिए यह विचारणीय है कि प्रव्रजन के अंतर्गत विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूहों से

[73]"Migration is a major factor in economic and manpower planning." M. S. A. RAO, *Studies of Migration*, P. 19.

आने वाले ऐसे लोग दिखाई देते हैं जिन्होंने शैक्षिक, व्यवसायिक, पारिवारिक, राजनीतिक और भिन्न-भिन्न जाति की पृष्ठभूमि से जुड़े होने के बावजूद स्वयं को जीवन की नयी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में व्यवस्थित किया है।

भूमंडलीकरण के दौर में बढ़ते प्रव्रजन का मुख्य कारण यह भी है कि इस नयी अर्थव्यवस्था ने कुछ नए जीवन मूल्यों को जन्म दिया है। इसलिए मनुष्य भी वैश्वीकृत भारत को नए संदर्भों में खोजना और स्वयं को व्यवस्थित करना चाहता है। प्रव्रजन को कुछ रूपों में देखा जा सकता है, जैसे श्रमिक या मजदूर प्रव्रजन, पारिवारिक प्रव्रजन, प्रतिभा प्रव्रजन आदि। हमारे देश में स्थानान्तरण के कारणों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग में वे कारण हैं, जिनसे आकर्षित होकर लोग दूसरे स्थानों पर जाते हैं और दूसरे वर्ग में वे परिस्थितियां हैं जिनसे विकर्षित होकर वे अपने स्थान को छोड़ते हैं। प्रवासी मजदूर एक समान श्रेणी के नहीं होते हैं, वे लिंग, वर्ग, प्रजातीयता, भाषा व धर्म के आधार पर बंटे होते हैं। प्रव्रजन करने वालों में महिलाएं व बालक सबसे अदृश्य व संवेदनशील समूहों में होते हैं। आजीविका की तलाश में मौसमी प्रव्रजन करने वाले सामाजिक रूप से वंचित समूहों में से होते हैं, जैसे अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग से, क्योंकि उनके पास निजी संसाधनों का अभाव होता है। जैसे कि, "भारतीय प्रव्रजन भी अपने आप में विविध है ऐतिहासिक संदर्भों में प्रव्रजन के कारण और परिणाम अलग-अलग रहे हैं। प्रवासित समूहों की सामाजिक विशेषताओं में भी भिन्नता है, जो कि शिक्षा, जाति, वर्ग, उद्गम स्थल, धर्म और भाषा के स्तर पर दिखाई देती है।"[74]

पूर्व में प्रव्रजन का जो स्वरूप रहा है वह कहीं न कहीं बिखरा हुआ दिखाई देता है, जो वर्तमान समय में संगठित हुआ है। उदाहरण के लिए पहले लोग अकेले शहरों की ओर रुख करते थे। रोजगार की तलाश में वर्षों घर से दूर रहकर आवागमन किया करते थे। लोकगीतों में भी इन

[74]रामशरण जोशी, राजीव रंजन राय, प्रकाश चंद्रायन एवं प्रशांत खत्री (संपा.), *भारतीय डायस्पोरा: विविध आयाम*, पृ. 94.

परिघटनाओं की गूंज सुनाई देती है। आज के समय में अधिकांशत: मजदूर अपने परिवार को अपने साथ रखना श्रेयस्कर समझते हैं। मौसमी प्रव्रजन करने वालों की भी संख्या बढ़ी है। जो छ: महीने शहर में रहने के पश्चात् छ: महीने गाँव का रुख करते हैं। वर्तमान समय में सबसे महत्वपूर्ण समस्या नगरीकरण की रही है।

औद्योगिक क्रांति, कृषि क्रांति व परिवहन क्रांति के कारण नगरीकरण का जन्म हुआ है। नीतिसार यूनेस्को एवं यूनिसेफ के अनुसार, 2001 की जनगणना के अंतर्गत भारत में आंतरिक प्रव्रजन करने वालों की आबादी बढ़ी है। आबादी का 30% आंतरिक प्रवासी है। चिंताजनक बात यह है कि एक तरफ ग्रामीण लोगों में जनसंख्या की वृद्धि दर में गिरावट हो रही है वहीं दूसरी तरफ शहरी क्षेत्रों में जनसंख्या की वृद्धि दर बढ़ रही है। हालांकि शहरीकरण को विकास का पर्याय समझा जाता है किन्तु हमारे देश में शहरीकरण की व्यवस्थित प्रणाली नहीं है। यही कारण है कि देश का शहरीकरण नियोजित संतुलित व विकासपूर्ण श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया जाता। ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में प्रव्रजन का भी मुख्य कारण यही है कि वहां गरीबी निरंतर बढ़ रही है। ग्रामीण लोग ईंट निर्माण, बुआई, मत्स्यपालन, भवन निर्माण आदि में कार्य करते हुए झुग्गी-झोपड़ियों में नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त हैं। संयुक्त राष्ट्र में 'वर्ल्ड पापुलेशन प्रोस्पेक्टस' में स्पष्ट रूप से ये संकेत दिया गया है,

> वर्ष 2050 तक भारत आबादी के दृष्टिकोण से चीन को पीछे छोड़ देगा तथा देश के गाँव, संसाधनों व बुनियादी सुविधाओं की कमी के कारण बढ़ती आबादी जनसंख्या का बोझ वहन नहीं कर पाएगी। ऐसी स्थिति में गाँव से शहर की तरफ प्रव्रजन की गति बढ़ेगी और अंतत: 'गांवों के देश' भारत में वर्ष 2050 तक लगभग आधी जनसंख्या शहरों में निवास करने लगेगी।[75]

मुख्यतःप्रवासी या प्रव्रजन करने वाले लोगों को तीन श्रेणियों में बांटकर देखा जा सकता है। पहली श्रेणी के अंतर्गत जो गिरमिटिया मजदूरों के रूप में फ़िजी, मौरिशिस, गुआना आदि देशों

[75]कुरुक्षेत्र, पत्रिका, सितम्बर 2014, पृ. 9.

में भेजे गये। दूसरी श्रेणी के अंतर्गत अस्सी के दशक में खाड़ी देशों में गए अशिक्षित, अर्धशिक्षित, कुशल अथवा अर्धकुशल मजदूर आते हैं। तीसरी श्रेणी में नब्बे के बाद अर्थात् भूमंडलीकरण के दौर में वे लोग आते हैं जिन्होंने बेहतर जीवन के लिए प्रव्रजन किया या उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए। आदिवासी समाज के लिए प्रव्रजन एक समस्या के रूप में उभरा है। भारत में आदिवासियों की आबादी, देश की पूरी आबादी का आठ प्रतिशत है। परम्परागत रूप से अधिकांश आदिवासी समुदाय खेतिहर रहे हैं। इसके अतिरिक्त आदिवासी भूभागों में पाए जाने वाले खनिजों का निरंतर पूंजीपतियों द्वारा दोहन हो रहा है। सबसे बड़ी त्रासदी आदिवासियों के साथ यह रही है कि इनकी भूमि लेने के बाद इनकी न तो कोई भागीदारी सुनिश्चित की जाती है और न ही इनके पुनर्वास की व्यवस्था। यही कारण है कि ये समुदाय निंरतर प्रव्रजन और विस्थापन का दंश सहते हैं।

प्रव्रजन का एक कारण सामाजिक विषमता तथा शोषण भी है। गाँव में दलित तथा पिछड़ी जातियों के समुदायों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है जिसके कारण उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से असमानता का शिकार होना पड़ता है। सामाजिक हीन भावना से ग्रस्त लोग आर्थिक तंगी सहने को भी मजबूर होते हैं। महिलाओं का यौन शोषण तक किया जाता है। इस अन्याय व्यवस्था से पीड़ित, उपेक्षित वर्ग के लोग गाँव छोड़कर शहरों की ओर प्रव्रजन करते हैं। प्रवासियों को नागरिकों के तौर पर नहीं बल्कि उपभोक्ताओं के तौर पर देखा जाता है। यह पूंजीवादी विकास और नव-उदारवादी शहरीकरण के दोहरे प्रतिमान के कारण है। प्रवासी शहरी विकास के नव-उदारवादी मॉडल के कारण और सरकार की नीतियों और योजनाओं में उनकी मांगों की अनदेखी के कारण किसी भी तरह की सुविधाओं की मांग करने में सक्षम नहीं हैं। प्रवासी राज्य और नियोक्ता से कानूनी तरह से या संगठन बनाकर अपने अधिकारों की मांग करने में सक्षम नहीं हैं। बुनियादी सुविधाओं के लिए हर दिन बड़े पैमाने पर लेन-देन होता है और उनको इन सुविधाओं की लागत न जाने कैसे-कैसे चुकानी पड़ती है।

प्रवासियों के गले में अटकी गरीबी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। चूंकि प्रवासियों को नागरिकों के बजाय उपभोक्ताओं के तौर पर देखा जाता है, इसलिए उनके पास अक्सर अपने बच्चों पर लगाने के लिए बहुत पूंजी नहीं होती। बच्चे अक्सर अपने माता-पिता के साथ दिहाड़ी-मजदूरी करने लग जाते हैं या घर पर रहकर काम में अपनी माँ की मदद करने लग जाते हैं। आमतौर पर ये बच्चे 14-15 साल की उम्र से ही काम करना शुरू कर देते हैं, क्योंकि उनके माता-पिता 30-40 साल की उम्र से ज्यादा काम नहीं कर पाते हैं। प्रवासियों के लिए न तो राज्य और न ही नियोक्ता, चाइल्डकेअर या प्राथमिक शिक्षा सुविधाएं प्रदान करते हैं। प्रवासियों के लिए कल्याणकारी योजनाओं की कमी का एक बड़ा कारण शहरी शासन और श्रम प्रशासन के बीच द्वंद्व होना भी है। हालांकि द्वंद्व की सटीक प्रकृति स्पष्ट नहीं है, विभिन्न अधिकारियों द्वारा निभाई जाने वाली भूमिकाओं पर स्पष्टता की कमी का प्रवासियों के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, फैक्टरी अधिनियम दुकानें और प्रतिष्ठान अधिनियम में कोई विशेष प्रावधान नहीं हैं जिनमें प्रवासी श्रमिकों की आवास आवश्यकताओं का प्रावधान हो। यह गौरतलब है कि कई मध्य स्तर के होटल और रेस्तरां बाद के अधिनियम के तहत पंजीकृत हैं और कई प्रवासी उस क्षेत्र में कार्यरत हैं।

प्रवासी अपने अधिकारों के लिए राजनीतिक तौर पर लामबंद हो कर अपनी आवाज बुलंद करने में सक्षम नहीं हैं। प्रवासियों से उनके मतदान के अधिकार छीन लिए जाते हैं और इस प्रकार उनके पास अपनी राजनीतिक लामबंदी का दावा करने का कोई अवसर नहीं मिल पाता है। उदाहरणस्वरूप, पानी के लिए सार्वजनिक नलकूप आवेदन करने के लिए कोई दस्तावेज आवश्यक नहीं है। पानी के लिए आवेदनों को अक्सर अधिकारियों द्वारा उपेक्षित किया जाता है, क्योंकि उनमें से कोई भी किसी भी तरह से प्रवासी समुदाय के प्रति जवाबदेह नहीं है। यदि इतिहास की ओर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि कभी-कभी प्रव्रजन ऐसा भी होता है, जिसके

पीछे कोई एक उपयुक्त कारण नहीं होता। ये प्रव्रजन सामूहिक रूप से होते हैं। जैसे, 1947 में भारत-पाकिस्तान का विभाजन हुआ तो पकिस्तान से लाखों लोग शरणार्थी बनकर भारत आए, जिन्हें विभिन्न शहरों में बसाया गया तथा बांग्लादेश से भी हजारों लोगों का भारत में आगमन जारी है। इसी प्रकार जब राज्यों का विभाजन होता है तब भी काफी बड़ी जनसंख्या में लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रव्रजन करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समाज में दो प्रकार की गतिशीलता पाई जाती है। एक गतिशीलता वह है जिसके अंतर्गत किसी व्यक्ति या समूह के जीवन में प्रव्रजन संबंधी परिवर्तन होता है, जिसे भौगोलिक गतिशीलता या देशांतर की प्रक्रिया कहा जाता है। दूसरी गतिशीलता वह है जिसके अंतर्गत मनुष्य सामाजिक धरातल पर स्थान परिवर्तन करता है। जिससे हमें समाज की नयी चीजों या घटनाओं के प्रति लोगों की प्रक्रियाओं का पता चलता है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है अतः यहाँ अस्सी प्रतिशत से अधिक मज़दूर असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं। भारत में भारी संख्या में लोग गांवों से शहरों की ओर रोज़गार प्राप्त करने के उद्देश्य से जाते हैं। जिस ग्रामीण को जहां रोज़गार मिलता है वह वहां चला जाता है। इसलिए भारी संख्या में लोग एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में चले जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि देश में विकास का जो मॉडल पिछले 70 वर्षों के दौरान अपनाया गया था क्या वह मॉडल ही ग़लत था? विकास के इस मॉडल के अंतर्गत जहां कच्चा माल उपलब्ध हो अथवा उत्पादित वस्तु की जहां माँग अधिक हो, उसी क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना की गई। देश में ग्राम स्वराज एवं स्थानीय आत्म निर्भरता की परिकल्पना पर ठीक से काम ही नहीं हुआ। जिसके कारण ग्रामीण इलाक़ों से श्रमिकों का शहरों की ओर प्रव्रजन रुका ही नहीं, बल्कि जनसंख्या में वृद्धि के साथ साथ प्रव्रजन की मात्रा भी बढ़ती चली गई। वर्ष 1951 के पूर्व देश की आबादी जहां छत्तीस करोड़ थी वह आज बढ़कर 138 करोड़ हो गई है। जिस प्रकार से अंतरराष्ट्रीय परिवेश का ध्यान रखते हुए देश में

औद्योगीकरण की नीति अपनाई गई उसके कारण धीरे धीरे मानव श्रम का महत्व इन उद्योगों में कम होता चला गया।

देश में औद्योगीकरण को बढ़ावा देते समय भारतीय सिद्धांतो को बिल्कुल ही भुला दिया गया था। उक्त कारण से आज प्रव्रजन का दबाव उन राज्यों में अधिक महसूस किया जा रहा है जहां जनसंख्या का दबाव ज़्यादा है एवं जहां औद्योगिक इकाईयों का सर्वथा अभाव है, यथा; उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, आदि। उद्योग इकाईयां सामान्यतः उन स्थानों में अधिक स्थापित की गयीं जहां कच्चा माल उपलब्ध था अथवा उन स्थानों में जहां उत्पाद का बाज़ार उपलब्ध था। महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, आदि प्रदेशों में इन्हीं कारणों के चलते अधिक मात्रा में उद्योग पनपे हैं। हालांकि माँग एवं आपूर्ति का सिद्धांत भी लागू होता है। महाराष्ट्र एवं गुजरात में बहुत अधिक औद्योगिक इकाईयाँ होने के कारण श्रमिकों की माँग अधिक है जबकि इन प्रदेशों में श्रमिकों की उपलब्धतता कम हैं। इन प्रदेशों में शिक्षा का स्तर बहुत अच्छा है एवं लोग पढ़ लिखकर विदेशों की ओर चले जाते हैं ब्लू-कॉलर अथवा अनौपचारिक क्षेत्र कर्मचारी के अंतर्गत रोजगार प्राप्त कर लेते हैं। अतः इन राज्यों में श्रमिकों की कमी महसूस की जाती रही है। श्रमिकों की आपूर्ति उन राज्यों से हो रही है जहां शिक्षा का स्तर कम है एवं इन प्रदेश के लोगों को ब्लू कॉलर रोज़गार नहीं मिल पाते हैं अतः इन प्रदेशों के लोग अपनी आजीविका के लिए केवल खेती पर निर्भर हो जाते हैं। साथ ही, गावों में जो लोग उत्साही हैं और बेहतर जीवन की तलाश कर रहे हैं, वे भी शहरों की ओर प्रव्रजन करते हैं।

कोरोना महामारी के फैलाव और तालाबंदी की लंबी अवधियों के बीच भारत में श्रमिकों के हालात और अर्थव्यवस्था में उनके योगदान के कुछ नए अध्याय हमारे समक्ष खुल गए हैं। कोरोना महामारी में कई प्रकार की समस्याएं देखने को मिली है। इनमें से एक है मजदूरों की समस्या। छत्तीसगढ़ के प्रवासी मजदूरों की बात करें तो इस राज्य में अस्सी प्रतिशत की आबादी

खेती-किसानी के कामों से जुड़ी हुई है। यहां के किसान और खेतिहर मजदूर अधिक आय के लिए दूसरे राज्यों में प्रव्रजन करते हैं। संयुक्त राष्ट्र (यूएन) के इंटरनेशनल ऑर्गेनाइजेशन फॉर माइग्रेशन द्वारा तीन दिसंबर को जारी वर्ल्ड माइग्रेशन रिपोर्ट 2020 में यह बात कही गई है, "दुनिया भर में भारतीय प्रवासियों की संख्या 175 करोड़ है, जबकि दूसरे नंबर पर मैक्सिको है, जिसके प्रवासियों की संख्या 1.18 करोड़ है। तीसरे नंबर पर चीन है, जिसके 107 करोड़ लोग दूसरे देशों में रह रहे हैं।"[76] दुनिया में भारत पहले नंबर पर है, जहां के लोग दुनिया के दूसरे देशों में सबसे अधिक प्रवासी के तौर पर रह रहे हैं।

प्रव्रजन मौसमी आधार पर हो या फिर जीविका की संकट की स्थिति में। सबसे अधिक प्रभाव दलितों और आदिवासियों पर पड़ता है, जो गरीबों के बीच सबसे गरीब की श्रेणी में आते हैं यह तथ्य मुख्य रूप से आंध्रप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, और महाराष्ट्र के सर्वाधिक पिछड़े और सिंचाई के लिए मुख्यतः वर्षा पर आधारित जिलों पर लागू होती है। प्रव्रजन के अंतर्गत महिला का खेतिहर मजदूर के रूप में और पुरुषों का असंगठित क्षेत्र में रोजगार की तलाश एक आम बात है। यदि प्रव्रजन जीविका के परंपरागत स्रोत पर संकट आने के कारण हो रहा है तो इससे असंगठित क्षेत्र में उद्योगों के पनपने को बढ़ावा मिलता है और शहरों में तेजी से झुग्गी बस्तियों का विस्तार होता है। छोटी और असंगठित क्षेत्र में पनपी फैक्ट्रियों के मालिक प्रव्रजन करके आये मजदूरों से खास लगाव रखते हैं क्योंकि ऐसे मजदूर कम पारिश्रमिक पर काम करने को तैयार रहते हैं। मजदूरों की यह कमजोरी और कम पारिश्रमिक भले ही कुछ समय के लिए उद्योगों के फायदे में हो लेकिन आगे चलकर देश की बढ़ोतरी की कथा में ऐसे मजदूरों की भागीदारी नहीं हो पाती। क्योंकि उनके पास खरीदने की शक्ति कम होती है और उपभोग की भी। जबकि बाजार बढ़ते हुए उपभोग से ही आगे बढ़ता है। इसी कारण अकसर यह तर्क दिया जाता है

[76] https://navbharattimes.indiatimes.com, 18/09/2019

कि गांवों से शहरों की तरफ प्रव्रजन तभी समृद्धि की राह खोल सकता है जब मजदूरों के लिए अधिक पारिश्रमिक पाने का आकर्षण हो और दूसरी तरफ गांवों से खदेड़ने वाली गरीबी हो।

वर्ष 1991 से 2001 के मध्य सात करोड़ तीस लाख ग्रामीण अपने मूल वास स्थान से कहीं और जाने के लिए विवश हुए। इसमें से अधिकतर किसी अन्य गांव में गए। जबकि एक तिहाई से भी कम यानी दो करोड़ शहरों में पहुंचे। शहरों में पहुंचने वाले ज्यादातर रोजगार की तलाश में आये। मौसमी तौर पर प्रव्रजन करने वालों की संख्या लगभग दो करोड़ है लेकिन कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि वास्तविक संख्या आधिकारिक आंकड़े से दस गुना ज्यादा हो सकती है। उत्तराखंड राज्य के लिए भी प्रव्रजन एक बड़ी चिंता का विषय है, क्योंकि यहां से न सिर्फ गांव खाली हो रहे हैं, बल्कि उत्तराखंड में देश की अंतर्राष्ट्रीय सीमाएं हैं और सामरिक दृष्टि से सीमाओं पर लोगों का रहना बहुत जरूरी है। यही वजह है कि इस राज्य में 'प्रव्रजन आयोग'का गठन भी किया गया। आयोग न केवल गांवों से हुए प्रव्रजन के कारणों का अध्ययन करने के लिए प्रयासरत है, बल्कि यह भी जानकारी जुटा रहा है कि गांवों में अब तक क्या-क्या सुविधाएं दीजा चुकीहैं और लोग और किस तरह की सुविधाएं चाहते हैं।

प्रव्रजन की समस्या को कम करने के लिए सर्वप्रथम उसके कारणों की पड़ताल करना आवश्यक है। इसके लिए यह जरुरी है कि प्रव्रजन को एक समस्या के तौर पर देखा जाए। नब्बे के दशक के बाद आर्थिक क्षेत्रों में सुधार की योजनाएं लागू की जा रही हैं वहीं दूसरी ओर लोगों के प्रव्रजन की गति भी तीव्र गति से बढ़ रही है। जिसे एक सामाजिक समस्या के तौर पर देखे जाने की आवश्यकता है।

3.2 प्रतिभा प्रव्रजन

'प्रतिभा प्रव्रजन' शब्द से तात्पर्य है देश दुनिया से बुद्धिजीवी वर्ग अथवा किसी वर्ग की विशेष प्रतिभाओं का अन्य देश में बेहतर सुविधाओं के लिए प्रस्थान करना। यह एक तरह से मानव संसाधन का अंतरराष्ट्रीय हस्तक्षेप है। इसी निर्गमन अथवा प्रवास की प्रक्रिया को हाल के वर्षों में 'प्रतिभा प्रव्रजन' की संज्ञा दी गयी है। आक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी के अनुसार, "brain drain is the movement of highly skilled and qualified people to a country where they can work in better condition and earn more money."[77] प्रतिभा प्रव्रजन को 'मानव पूँजी उड़ान' के नाम से भी जाना जाता है। जिसमें वित्तीय पूँजी का व्यापक प्रवास सम्मिलित है जिसे पूंजीगत उड़ान के सामानांतर देखा जाता है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत विभिन्न वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर आदि अमेरिका, जर्मन, इंग्लैंड जैसे विकसित देशों में उत्प्रवास करते हैं। जिसका विकसित देश भरपूर लाभ उठाते हैं। 'डायस्पोरा' की चर्चा भी इसी संदर्भ में की जाती है। 'भारतीय डायस्पोरा', विश्व में विशिष्ट और गतिशील डायस्पोरा है जो विश्व के 120 से अधिक देशों में फैले हुए हैं।

भारतीय डायस्पोरा को दो भागों में विभाजित करके देखा जाता है। पुराना डायस्पोरा और नया डायस्पोरा। पुराने डायस्पोरा में फिजी, मलेशिया, त्रिनिडाड, गुयाना, सूरीनाम को शामिल किया जाता है। वहीं नए डायस्पोरा के अंतर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, न्यूजीलैंड और ऑस्ट्रेलिया आदि सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त भारतीयों की एक संख्या खाड़ी देशों में भी निवास करती है। अर्ध-कुशल और अकुशल भारतीय मुख्य रूप से श्रम के लिए खाड़ी सहयोग परिषद के उच्च आय वाले देशों में केंद्रित हैं। आंकड़े बताते हैं कि भारतीय वैज्ञानिकों और इंजीनियरों का अमेरिका में प्रवास पिछले दस सालों में पचासी प्रतिशत बढ़ा है। यही कारण है कि

[77] https://www. Oxfordlearnersdictionaries.com

वर्तमान समय में प्रतिभा प्रव्रजन भारत के लिए एक सामाजिक-आर्थिक समस्या बनकर उभरा है। संयुक्त राष्ट्र प्रवासन रिपोर्ट 2020 प्रकाशित की गयी है जिसमें कहा गया है, "18 million Indians living outside their homeland; women now comprise nearly half of all international migrants।"[78]अट्ठारह मिलियन भारतीय अपनी मातृभूमि से बाहर देशों में रह रहे हैं, अंतरराष्ट्रीय प्रवासियों में आधी संख्या महिलाओं की भी है।

प्रतिभा प्रव्रजन के अनेक कारण हैं जिसमें देश और व्यक्ति प्रमुख हैं मसलन अवसरों की कमी, राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक अवसाद, स्वास्थ्य सेवाएं आदि। व्यक्तिगत कारणों के अंतर्गत पारिवारिक प्रभाव, व्यक्तिगत रुचि, बेहतर शिक्षा और जीवन की महत्वाकांक्षा। वर्तमान समय में अधिकांश विकसित देशों ने संस्थाओं के रूप में कार्य करना शुरू किया है। जिनका उद्देश्य है, बेहतर अवसर प्रदान करके प्रतिभाशाली और कुशल लोगों को आकर्षित करना। ज्ञान अर्थव्यवस्था में कुशल श्रम की बढ़ती मांग को ध्यान में रखते हुए यूरोपीय संघ के लिए मानव शक्ति की आपूर्तिकर्ता के रूप में भारत की स्थिति महत्वपूर्ण रही है। साथ ही राष्ट्रों के मध्य परस्पर आर्थिक निर्भरता को बढ़ाने में भी देश का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में भी भारतीय छात्रों ने प्रवासियों के प्रवाह में एक महत्वपूर्ण स्थान ले लिया है।

भारतीयों के प्रव्रजन का एक महत्वपूर्ण कारण शिक्षा भी है। बड़ी संख्या में भारतीय छात्र शिक्षा के लिए विदेशी संस्थानों का चुनाव कर रहे हैं तथा देश की सीमाओं के भीतर भी एक राज्य से दूसरे राज्य की ओर उन्मुख हो रहे हैं। शिक्षा के साथ-साथ रोजगार अपनाने की भी प्रवृत्ति बढ़ी है। लगातार विदेशों में भारतीयों की संख्या बढ़ रही है। दूसरा वर्ग, पूंजीपतियों का है। इन्हें भारत में व्यापार व पूंजी निवेश के लिए पर्याप्त अनुकूल परिवेश दिखाई नहीं देता। एक अनुमान के अनुसार हर वर्ष डेढ़ लाख भारतीय छात्र विदेश में शिक्षा के लिए फार्म भरते हैं। लगातार बढ़ती

[78] International Organisation for Migration-IOM

इस प्रवृत्ति को एक नाम दिया गया है- brain drain अर्थात् 'प्रतिभा प्रव्रजन'। भारत की प्रतिभाओं (डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि) का विदेशों में बस जाना। यूरोप में वर्तमान भारतीय गतिशीलता मुख्य रूप से आईटी, चिकित्सा, वित्त आदि क्षेत्रों में रही है। इस दौर में प्रशिक्षित और उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीयों का दूसरे देशों में प्रव्रजन एक दुखद स्थिति को दर्शाता है। तकनीकी, इंजीनियरिंग, चिकित्सक, विज्ञान आदि क्षेत्रों में प्रतिभावान भारतीय पश्चिमी देशों की ओर उन्मुख हो रहे हैं। प्रतिभा प्रव्रजन मुख्यतः विकसित देशों की ओर हुआ है।

वास्तव में प्रतिभा प्रव्रजन कोई नयी समस्या नहीं है और न ही यह किसी एक देश तक सीमित है। यह समस्या दशकों पुरानी है और विश्व के अधिकतर विकासशील देश इससे पीड़ित हैं। प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही किसी समाज या राष्ट्र की वास्तविक संपदा होता है। जिसकी दशा और दिशा पर देश का भविष्य निर्धारित होता है। ऐसे में दूसरे देशों में गमन की नीति चिंता का विषय बनी हुई है। लेकिन इससे सबसे ज्यादा नुकसान भारत को उठाना पड़ रहा है। क्योंकि प्रतिभाशील लोगों में भारत अग्रणी देश रहा है और सबसे अधिक प्रव्रजन भी यहीं से होता रहा है। भूमंडलीकरण के इस दौर में भारत से विदेशों की ओर प्रव्रजन करने वाले भारतीय ब्रिटेन, उत्तरी अमेरिका, कनाडा, सिंगापुर जैसे देशों में उच्च राजनीतिक पदों पर आसीन हैं साथ ही तकनीकी आदि क्षेत्रों में भी अपनी सक्रीय भूमिका निभा रहे हैं। नब्बे के दशक के बाद बीस से पच्चीस वर्ष के युवाओं का प्रव्रजन तेजी से बढ़ा है। ऑर्गेनाइजेशन फॉर इकॉनमिक को-ऑपरेशन एंड डेवलपमेंट (OECD) के आंकड़ों के अनुसार, "2017 में ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में ऐसे 69 हजार डॉक्टर काम कर रहे थे, जिन्होंने भारत में डॉक्टरी की पढ़ाई की थी। वहीं ऐसी नर्सों की संख्या 56 हजार थी। इसी तरह अमीर खाड़ी देशों में भी हजारों भारतीय

स्वास्थ्यकर्मी हैं।"[79] भारत से बड़ी संख्या में मेडिकल छात्र यूरोप के देशों और चीन में पढ़ाई के लिए भी जाते हैं। वे पढ़ाई के बाद यूरोप, अमेरिका या विकसित देशों में ही नौकरी की तलाश करते हैं, और रोजगार मिलने के बाद वहीं बस जाते हैं। भारत में 1970 के दशक से ही प्रतिभाओं का प्रव्रजन शुरू हो गया था। यह समस्या भूमंडलीकरण के दौर में और अधिक विराट हो गयी है। 'ओपन डोर' संस्था की रिपोर्ट (2015-16) के अनुसार, "अमेरिकी कॉलेजों में दाखिला लेने वाले भारतीय छात्रों में पच्चीस फीसदी वृद्धि हुई है। अमेरिकी अर्थव्यवस्था में उन्होंने पांच अरब रुपयों का योगदान दिया है।"[80] भूमंडलीकरण की व्यापकता के साथ-साथ नयी-नयी चुनौतियाँ भी हमारे समक्ष आ रही हैं।

आज भारत को विश्व के प्रथम सबसे बड़े डायस्पोरा समुदायों में गिना जाता है। चूँकि भारत में प्रव्रजन के कई आयाम रहे हैं। व्यापारीकरण, साम्राज्यवाद, धार्मिक यात्राएँ, सांस्कृतिक कारण, आदि। विकसित देशों के रहन-सहन के ऊंचे स्तर ने विकासशील देशों के लोगों को आकृष्ट किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि विकासशील देशों के अधिकांश प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति इस स्तर को प्राप्त करने का अनुभव करने लगे। यही कारण है कि उच्च शिक्षा प्राप्त कर लोग विदेशों में ही बस जाना चाहते हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में विश्व भर की कम्पनियों की कार्य-शैली और उत्पादन प्रक्रियाएं लगभग एक समान हो गयी हैं। परिणामस्वरूप अब प्रबंधन के क्षेत्र में अधिक उम्र की प्रतिभा वाले लोगों का भी प्रव्रजन शुरू हो गया है। यही कारण है कि देश में डॉक्टर और इंजीनियरों के साथ-साथ कुशल प्रबंधकों की भी कमी हो गयी है। इस पूरी प्रक्रिया ने भारत की अर्थव्यवस्था को बुरी तरह से प्रभावित किया है। दरअसल नॉलेज इकॉनमी एक

[79] https://p.w.com/p/3Y9YC, 28/07/2021

[80] www.janstta.com/world/america/25/07/2020

आर्थिक प्रणाली है जिसमें वस्तुओं और सेवाएं मुख्य रूप से ज्ञान-प्रधान गतिविधियों पर आधारित होती है जो तकनीकी विकास के नये रूपों की प्रगति में योगदान देती हैं।

3.3 स्त्री प्रव्रजन की समस्या

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में प्रव्रजन की समस्या सर्वाधिक रही है। विवाहजन्य प्रव्रजन के अलावा कुछ अन्य कारण भी हैं, जो स्त्रियों के जीवन को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। पुरुषों की तुलना में महिलाओं के प्रव्रजन के कारणों में कुछ अंतर दिखाई देता है। आमतौर पर पुरुषों का प्रव्रजन रोजगार आदि को लेकर अधिक होता है। जबकि स्त्रियों के प्रव्रजन का सबसे बड़ा कारण विवाह है। स्त्री के लिए प्रव्रजन से जुड़ी समस्याओं का भी एक इतिहास रहा है। भारत देश के भोजपुरी क्षेत्र की यदि बात करें तो वहां प्रव्रजन से निर्मित कुछ परम्पराएं रही हैं। जिनमें संवेदनाओं का आदान-प्रदान दिखाई देता है। मुख्य रूप से बनिजिया, सिपहिया और बिदेसिया लोकपरम्परा। जीविकोपार्जन के लिए जब पुरुष विदेश गमन करता है तो दायित्व निर्वहन की जिम्मेदारी स्त्री के उपर आ जाती है। इसी के साथ उसे सामाजिक उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ता है। भोजपुर क्षेत्र से प्रवास करने वाले पुरुष अपनी स्त्रियों को बहुत कम साथ लेकर गए। लेकिन औपनिवेशिक दौर में स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। आर्थिक विपन्नता के कारण स्त्रियां न केवल कलकत्ता, धनबाद और आसाम जैसे तत्कालीन औद्योगिक व बागानी इलाकों में प्रव्रजन करने लगीं। बल्कि सस्ते मज़दूर के रूप में विदेशों में भी भेजी गयीं। भूमंडलीकरण के समय में विवाह के अतिरिक्त उच्च शिक्षा और रोजगार के लिए महिलाएं विदेशों की ओर उन्मुख हो रही हैं। एक दूसरा कारण यह भी है।

भारत में झारखण्ड, असम, बिहार, पलामू, आदि राज्यों से कुछ किशोरियों को घर के काम-काज के लिए बड़े शहरों में लाया जाता है जिसे बंधुआ मजदूरी का ही एक रूप माना जा सकता है, जिसमें अधिकांशत: स्त्रियां प्रवासी घरेलू श्रमिकों के रूप में कार्यरत हैं। इसके अतिरिक्त स्त्रियों का यौन शोषण व उनका अवैध व्यापार भी किया जाता है। नब्बे के दशक के बाद से यह प्रवृत्ति तीव्र गति से आगे बढ़ी है। यदि हम वास्तविकता को देखने का प्रयास करें, तो हमें यह स्पष्ट दिखता है कि महिला मजदूरों की तादाद कम नहीं है और न ही इनकी प्रव्रजन क्षमता। स्त्रियों का प्रव्रजन छोटे शहरों से बड़े शहरों में लगातार बढ़ा है, जिसके कारण इन्हें काफी मुसीबतों का सामना भी करना पड़ता हैं; कहीं न कहीं कोरोना महामारी ने भी समाज की छुपी हुई वास्तविकता को बाहर आने दिया हैं, जिसे हम शायद कभी नहीं देख पाते। 'मजदूरी'और 'प्रव्रजन'का गहरा रिश्ता है जिस पर कई कहानियां और कई गीत लिखे जा चुके हैं, जैसे बिहार में या कहे तो समस्त पूर्वांचल में प्रव्रजन का यह गीत बहुत ही प्रचलित है, "रेलियाँ बैरन पिया को लिए जाए रे, रेलियाँ बैरन"[81] इसमें भी कहीं न कहीं स्त्रियों के अपने पति से बिछड़ने वाले दर्द को दिखाया गया है।

इस तरह, प्रव्रजन, गरीबी के उस दर्द को प्रस्तुत करता है, जिसे स्त्रियां सदियों से देखती आ रही हैं। चाहे वो खुद के काम से संबंधित हो या फिर अपने पति के काम से। प्रव्रजन और मजदूरी का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना अमीरी और गरीबी का, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद का, शिक्षित और अशिक्षित का, जितना जाति और जातिवाद का, महिला और पुरुष का, युद्ध और शान्ति का, सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। प्रव्रजन की समस्या उस दौर में भी थी जब हम गुलामी की जंजीरों में जकड़े थे और ब्रिटिश साम्राज्य की गुलामी करते थे। यदि हम उन दिनों चाय बागानों की स्थिति देखें तो ज्ञात होता है कि महिलाएं राजमहल और छोटानागपुर के जंगलो से निकलकर अपने परिवार और खेत खलिहान को छोड़कर असम के चाय बगानों में आती थीं।

[81] http://kavitakosh.org

भूमंडलीकरण के दौर में देश में महिलाओं की भागीदारी कृषि के क्षेत्र में बढ़ रही है क्योंकि पुरुष, नौकरी या मजदूरी करने के लिए शहर चले जाते हैं उसके बाद महिलाएं ही होती हैं जोखेती-बाड़ी का काम देखती हैं। आर्थिक सर्वेक्षण 2017-18की रिपोर्ट में बताया गया था कि पुरूषों का गाँव से शहर में प्रव्रजन होने की वजह से महिलाओं की हिस्सेदारी कृषि के क्षेत्र में बढ़ रही है। इसकी वजह से महिलाएं कृषि को लेकर विभिन्न भूमिकाओं में दिख रही हैं। मसलन किसान, उद्यमी और श्रम में महिलाओं की हिस्सेदारी बढ़ी है। इसके साथ ही वैश्विक स्तर पर देखा गया है कि महिलाओं ने खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने में और स्थानीय जैव व कृषि को सुरक्षित बनाने में अहम भूमिका निभाई है। ग्रामीण महिलाओं ने विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करते हुए प्रबंधन का एकीकृत ढांचा विकसित किया है। धीरे-धीरे स्त्रियों का परिचय शहरी उद्योगों और उपभोक्तावादी संस्कृतियों से भी होने लगा। स्वाभाविक था कि वे अब नौकरी के क्षेत्र में आगे बढ़ रहीं थीं। औद्योगिक क्षेत्रो में स्त्रियों की विचारधारा की महती भूमिका रही है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के चलते परिस्थितियां तो बदली हैं परन्तु स्त्री को लेकर पारम्परिक सोच में बदलाव आना बाकी है। हालांकि भारत में महिलाएं अब प्रत्येक गतिविधि में हिस्सा ले रही हैं।

नब्बे के दशक के बाद स्त्री उत्थान के लिए कई संस्थाओं का गठन भी किया गया। जिन्होंने स्त्री अधिकारों के लिए समय-समय पर आवाज़ भी उठाई। कई स्त्रियों ने स्थानीय आंदोलनों का नेतृत्व भी किया जिसका स्वरुप आगे चलकर राष्ट्रीय हो गया। उदाहरणतः, नर्मदा बचाओ आंदोलन की मेधा पाटेकर। श्रमिक के रूप में भारत की स्त्रियों को लेकर विचार किया जाए तो उनकी भागीदारी निश्चित रूप से पुरुषों की तुलना में कम है। भारत के शहरी क्षेत्रो में स्त्री श्रमिकों की एक बड़ी संख्या मौजूद है। उदाहरण के रूप में सॉफ्टवेयर उद्योग में अधिकांश स्त्रियां कार्यरत हैं। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में भले ही स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी है परंतु कृषि और संबंधित

क्षेत्रों में पारिश्रमिक की उचित व्यवस्था नहीं है। यही कारण है कि पुरुषों के साथ स्त्रियां भी मजदूरी के लिए शहरों की ओर प्रव्रजन करती हैं। शहरों में भी उन्हें लिंग आधारित श्रम-विभाजन का सामना करना पड़ता है। यह विभाजन संस्कृति, स्थान और समय के अनुसार बदलता रहता है। बीते वर्षों में यह पाया गया है कि प्रव्रजन का सबसे गंभीर प्रभाव स्त्रियों पर पड़ा है। क्योंकि पुरुषों के बढ़ते प्रव्रजन के कारण घर की बागडोर स्त्रियों के हाथों में आ गयी है। गांव में स्थिति यह है कि आर्थिक कमी से जूझती स्त्रियां देह व्यापार का रास्ता भी अपना रही हैं। गैर-सरकारी संगठन के कार्यकर्ता संजीत कुमार साहू कहते हैं, "हर साल बाढ़ या सूखे जैसी प्राकृतिक आपदा के बाद महिलाओं की तस्करी या खरीद-फ़रोख्त के मामलों में अचानक वृद्धि हो जाती है। असम में बीते दिनों आई भयावह बाढ़ के बाद ऐसी दर्जनों शिकायतें सामने आई थीं। ऐसी महिलाओं को शहरों में पहुंचाने के बाद वेश्यालयों में बेच दिया जाता है।"[82]

कोरोना महामारी के कहर ने भी उनके साथ कुछ ऐसा ही किया और उन्हें 'रिवर्स माइग्रेशन'की तरफ मोड़ दिया। ऐसा प्रव्रजन जिसका न कोई अंत है। प्रव्रजन का सीधा अर्थ है कि प्रव्रजन काम को या शहरी जनसंख्या को बढ़ावा देता है, वहीं 'रिवर्स माइग्रेशन'उस जनसंख्या को एक झटके में वापस वहीं भेज देता है जहां से वो आये हैं। संयुक्त राष्ट्रअपनी रिपोर्ट में यह चेतावनी देता है कि यह महामारी स्त्रियों के समाज में बराबरी हासिल करने के दशकों पुराने संघर्ष पर पानी फेर सकती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 41 में काम का अधिकार तथा अनुच्छेद 42 में काम करने के बेहतर हालत और मजदूर स्त्रियों के लिए मातृत्व लाभ की बात कही गई है। उत्तराखंड में भी अलग राज्य की नींव रखने से लेकर खेती तक सारा संघर्ष स्त्रियों के प्रयासों से ही आगे बढ़ा है। जंगल के पेड़ बचाने के लिए पेड़ों से लिपटने वाली महिलाएं, आखिर क्यों अपने पेड़, जंगल, खेत, घर, गांव और पहाड़ छोड़कर मैदानों की ओर रुख कर रही हैं? अनैतिक

[82]https://p.dw.com/p/3u7RK, 20/05/2021

आयात-निर्यात ने दुनिया की गरीब स्त्रियों के साथ क्रूरतम हिंसा की है। पारिवारिक हिंसा भी स्त्री प्रव्रजन का एक मुख्य कारण है। हरप्रीत कौर अपने एक लेख मे लिखती हैं, “एक अध्ययन के मुताबिक लंदन मैट्रो ट्रेन के आगे मात्र दो वर्ष में जितनी आत्महत्याएँ हुई हैं, उनमें अस्सी फीसदी संख्या पंजाबी महिलाओं की है।”[83]

भारत अपने प्रौद्योगिकीय तथा अनुसंधान विकास के समुचित उपयोगों से प्रगति के पथ पर अग्रसर होता रहा है और एक दशक से भी अधिक पूर्व से शुरू हुई प्रक्रिया के अन्तर्गत अनुसंधान एवं विकास में वैश्विक प्रतिस्पर्धा के रूप में उभर चुका है। लेकिन गांवों में शहरी प्रवृत्ति का प्रवेश किस प्रकार ग्रामवासियों को बाजारवाद की ओर धकेल रहा है। यह चिंता का विषय है। चूंकि भारत में वेश्यावृत्ति की समस्या निरंतर बढ़ती जा रही है। मानव तस्करी के अंतर्गत ग्रामीण क्षेत्रों से स्त्रियों को लाकर शहरों में बेच दिया जाता है। ऐसी भी घटनाएं देखी गयीं हैं जहां विज्ञापन और फ़िल्मी जगत की चकाचौंध से प्रभावित होकर लड़कियां शहरों की ओर प्रव्रजन करती हैं और देह व्यापार के अंतर्गत एक दूसरी दुनिया में ही प्रवेश पा जाती हैं। वेश्याओं की बड़ी संख्या इन्हीं दलित, आदिवासी और गरीब तबकों से ही आती है।

---

[83]रामशरण जोशी, राजीव रंजन राय, एवं अन्य (संपा.), *भारतीय डायस्पोरा: विविध आयाम*, पृ. 160.

3.4 प्रव्रजन संबंधित चुनौतियाँ

भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के लोगों पर प्रव्रजन का प्रभाव अलग-अलग रूपों में दिखाई देता है। आंतरिक प्रव्रजन के अंतर्गत प्रवासी बच्चों का समूह सर्वाधिक समस्याग्रस्त है चूंकि बार-बार प्रव्रजन के कारण वे अपने मूलभूत अधिकारों से वंचित रह जाते हैं, जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएं। जोकि उनके शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त बाल प्रवासी ईंट भट्टे, नमक बनाने, निर्माण कार्य, खदानों, होटलों आदि क्षेत्रों में भी कार्यरत हैं। हालांकि श्रमिक, जिस पर हमारे सम्पूर्ण समाज की आधारशिला रखी हुई है पर साथ ही इनका प्रव्रजन अनेक समस्याओं को जन्म भी देता है। एक ओर जिस स्थान से कोई श्रमिक या श्रमिक समुदाय प्रव्रजन करता है, वहाँ श्रमिक शक्ति के अभाव के कारण सामाजिक संरचना डगमगाने लगती है, वहीं दूसरी ओर जिस स्थान पर प्रव्रजन करता है, वहाँ की सामाजिक संरचना को भी प्रभावित करता है। ऐसे मे सबसे बड़ी चुनौती यह होती है कि सामाजिक सम्बन्धों की निरन्तरता को बनाए रखने के लिए समायोजन करना अत्यंत कठिन हो जाता है।

प्रवासी 'घुमंतू' एक ऐसी आबादी का अंग होते हैं जो निरंतर आवागमन करते हैं। जिससे वे हाशिए पर रहते हैं। भारत सरकार ने आंतरिक प्रव्रजन को निचले स्तर की प्राथमिकता दी है। आंतरिक प्रवासियों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जैसे, राजनीतिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न, कम मजदूरी, सरकारी सेवाओं की न्यूनतम उपलब्धतता, प्रजाति, धर्म, वर्ग आदि के आधार पर भेदभाव। दूसरी ओर प्रवासी मजदूर अनाधिकृत कच्ची बस्तियों और झोपड़ियों में रहने के लिए मजबूर भी हैं। अरविन्द मोहन अपनी पुस्तक में लिखते हैं,

> प्रवासी मजदूर आज पंजाब के आर्थिक जीवन का अभिन्न अंग बन गया है लेकिन यहाँ के सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक जीवन में उनका जुड़ाव अंश मात्र भी नहीं हुआ है। यह आंशिक जुड़ाव जहां

पंजाब और प्रवासियों दोनों की सिर्फ आर्थिक जरूरतों को बताता है, वहीं कई खतरों को भी जन्म देता है।[84]

इसके अतिरिक्त प्रव्रजन सांस्कृतिक परिवर्तन का भी एक बहुत बड़ा कारण बनता है। फलत: विचारधाराओं में परिवर्तन आता है और भूमंडलीकरण के इस दौर में प्रसारण और संश्लेषण एक माध्यम के रूप में उभरा है। दूसरी ओर पाश्चात्य प्रणाली के प्रभाव से संयुक्त परिवार की अपेक्षा एकल परिवार का महत्व बढ़ा है। इस तरह से देखा जाए, तो भारत में विवश प्रव्रजन की प्रवृत्ति अधिक है। आमतौर पर प्रव्रजन की मौलिक समस्या रोजगार न मिलने से शुरू होती है जिससे ऐसी परिस्थितियां पैदा होती हैं, जो लूट, चोरी आदि कृत्यों को जन्म देती है। कहीं न कहीं अवसाद और आत्महत्या भी प्रव्रजन कर्ताओं की एक बड़ी समस्या है। दुर्खीम ने आत्महत्या के दो कारणों का उल्लेख किया है, "व्यक्ति का सामाजिक एकीकरण, व्यक्ति के सामूहिक लगाव में कमी। प्रव्रजन ऐसा कारक है जो पारिवारिक और सामूहिक ढाँचे को कुछ हद तक नष्ट कर देता है।"[85] प्रव्रजन के समक्ष एक सबसे बड़ी समस्या है श्रमिकों के जीवन का अस्थिर हो जाना। उनका कार्यक्षेत्र निरंतर बदलता रहता है। जिससे वे स्वयं को अनिश्चितता की स्थिति में पाते हैं।

भारत में जल संकट जनजीवन पर गहराता जा रहा है,जो प्रव्रजन के विभिन्न कारणों में से एक है। साल 2018 में नीति आयोग द्वारा किये गए एक अध्ययन में 122 देशों के जल संकट की सूची में भारत 120वें स्थान पर खड़ा था। शहरों के पास पीने का स्वच्छ पानी भी नहीं होगा। जिसमें बंगलुरु, चेन्नई, दिल्ली और हैदराबाद जैसे शहर शामिल हैं जिसके कारण दस करोड़ लोगों की जिंदगी प्रभावित होगी। भारत में ग्रामीण इलाकों में जल संकट की गंभीर समस्या के कारण ग्रामीण जनसंख्या पहले से आबादी की मार झेल रहे शहरों की ओर प्रव्रजन करने को मजबूर हैं। प्रव्रजन के कारण शहरों में अनियंत्रित जनसंख्या का बोझ बढ़ता

[84]अरविंद मोहन, *बिहारी मजदूरों की पीड़ा*, पृ. 34.

[85]डॉ. अर्जुन सोलंकी, ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन:कारण एवं विस्थापन, कुरुक्षेत्र, सितंबर 2014, पृ. 20.

जा रहा है। देश के ग्रामीण इलाकों में जल अभाव शहरों की तरफ प्रव्रजन की एक बड़ी वजह है। भारत में जल प्रणाली व्यवस्थित न होने की वजह से वितरण में भी असमानता है।

भारत में, हर पांचवां प्रवासी एक बच्चा है। 2011 की जनगणना से उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार, देश भर में 92.95 मिलियन बाल प्रवासी आंतरिक रूप से विस्थापित थे, वर्तमान में इस आंकड़े में बहुत अधिक वृद्धि होने की संभावना है। हालांकि, बाल प्रवासी कोई एक समूह नहीं है। कुछ बच्चों के लिए, आप्रवास उनके लिए नई राहें खोल सकता है जो उनके सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों के विस्तार करने के साथ जुड़ा हुआ है, लेकिन कई अन्य लोगों के लिए इसमें गंभीर जोखिम भी होता है, जिसमें दुरुपयोग और शोषण शामिल है। लड़कियों की तुलना में लड़कों की शिक्षा के लिए प्रव्रजन करने की संभावना दोगुनी होती है और चौदह वर्ष से कम आयु के लगभग बीस मिलियन बाल प्रवासी काम में लगे हुए हैं। देश के औपचारिक क्षेत्र में इतनी क्षमता नहीं है कि वह प्रवासी के रूप में प्रतिदिन आने वाले अकुशल ग्रामीणों को रोजगार उपलब्ध करा सके। इसके परिणामस्वरूप अनौपचारिक क्षेत्र में श्रम की उपलब्धता बढ़ती जा रही है। शहरी अनौपचारिक अर्थव्यवस्था से जुड़ने वाले ये श्रमिक अथाह गरीबी और असुरक्षा के वातावरण में जीवनयापन करने को मजबूर हो जाते हैं। प्रव्रजन पर अध्ययन करने वाली अर्थशास्त्री बारबरा सेडोवा कहती हैं, “अगर आप माइग्रेट करना चाहते हैं, तो इसके लिए आपको कुछ संसाधनों की जरूरत पड़ती है। जिस चीज के बारे में ज्यादा बात नहीं की जाती, वह यह है कि एक बड़ी आबादी जो वाकई अपने मूल जगह पर फंसी हुई है और उसके पास पलायन करने के लिए जरुरी संसाधन नहीं है।”[86]

भारत जैसे देश में इस प्रकार की अर्थव्यवस्था, एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया बन गई है। सालों से चलते रहने के कारण इसने शहरी बेरोजगारी को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। बाहरी

[86]https://p.dw. com/P/3U7RK, 28/05/2021

व्यक्ति होने के कारण, उन्हें राज्य द्वारा प्रदत्त स्वास्थ्य व शैक्षिक सुविधाओं का लाभ नहीं मिल पाता है। अनौपचारिक श्रम बाजार में काम करते हुए इन प्रवासियों को सामाजिक अलगाव का भी सामना करना पड़ता है। शहरों में आने पर इनके मूल निवास, श्रम के प्रकार आदि के आधार पर इनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। भवन-निर्माण और कपड़ा क्षेत्र चक्रीय प्रवासियों के बड़े हिस्से को रोजगार देते हैं। इन क्षेत्रों में बिचौलियों के जरिये मजदूरों की भर्तियां की जाती हैं जो प्रायः अपने जातीय और नस्लीय दायरे का प्रयोग लोगों को नियुक्त करने में करते हैं। ऐसी स्थिति में लिंग, जाति, जनजाति, स्थान और भाषा के आधार पर विभिन्न प्रकार के भेदभाव प्रवासी श्रमिकों को कमजोर और अकेला कर देते हैं। भवन-निर्माण क्षेत्र के श्रमिकों की बड़ी संख्या अपने ठेकेदार से बंधी होती है और समय-समय पर एक निर्माण स्थल से दूसरे तक घूमती है।

3.5 प्रव्रजन के सकारात्मक पहलू

प्रारम्भ से प्रव्रजन को एक समस्या के रूप में देखा गया है, जो कि एकपक्षीय दृष्टिकोण है। हालांकि प्रव्रजन एक जनांकिकी घटना है जो जनसंख्या के आकार, वितरण और संरचना को शीघ्रता से प्रभावित करती है। चूंकि यह एक सहज और अनिवार्य प्रक्रिया है इसलिए कुछ संदर्भों में यह हानिकारक भी होती है, तो अन्य संदर्भों में लाभदायक। मानव सभ्यता के विकास में स्थानांतरण की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विश्व की बहुत बड़ी जनसंख्या आज ऐसी है, जो सदैव स्थानान्तरण करती रहती है। ऐसे तमाम उदाहरण हमारे समक्ष हैं जहां गाँव के साधारण परिवारों से आए युवक-युवतियां शहरों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर अच्छे रोजगार हासिल करते हैं इसी के साथ साथ काफी हद तक जातिगत भेदभाव में अंतर भी अवश्य आया है, क्योंकि जिस समाज में

जितना खुलापन होगा, वहां के लोग उतने ही महत्वाकांक्षी होंगे। पार्किन अपने अध्ययन में कहते हैं, "जो व्यक्ति महत्वाकांक्षी है तथा अपने प्रयत्नों एवं योग्यता से समाज में नीचे से ऊपर जाना चाहता है वह समाज की शक्ति संरचना का विरोध नहीं करता, वह व्यवस्था को सही मानते हुए कठिन प्रयत्न करता है, ताकि अपनी योग्यता एवं मेहनत के आधार पर आगे निकल सकें।"[87] अत: गतिशीलता समाज के लिए एक स्वस्थ प्रक्रिया है। पलायन से लोगों के जीवन स्तर में सुधार होता देखा गया है। कौशलयुक्त, सामाजिक संपर्क और संपत्ति रखने वाले श्रमिकों का जीवन स्तर तेजी से सुधरता है। नीची जाति और आदिवासियों के गांव में रह रहे परिवारों को भी, अपने प्रवासी सदस्य की कमाई के लाभ से गरीबी से मुक्त होते देखा गया है। जैसे कि,

> अगर हम विस्थापित होने वाले लोगों के लिए शहरों में रोजगार, घर और सम्मान की जिन्दगी जीने का मौका देते हैं, तो माइग्रेशन अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा का मुद्दा नहीं बनना चाहिए। अगर इसे सही तरीके से प्रबंधित किया जाता है, तो इसके देश के लिए सकारात्मक परिणाम भी हो सकते हैं।[88]

नब्बे के दशक की शुरुआत से, ग्रामीण भारत और भारतीय कृषि संकट के लंबे दौर से गुजरे हैं। यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि बड़ी संख्या में छोटे व सीमांत किसान और दिहाड़ी मजदूर कृषि से गुजारा करने अथवा खुशहाल होने में नाकाम हो रहे हैं। इसलिए जीविका का विविधीकरण, जिसमें परिवारिक श्रम का पुनर्वितरण भी शामिल है, गरीब तबकों के लिए जिंदा रहने की एक प्रमुख रणनीति के रूप में उभरा है।

स्थानीय स्तर पर खेती के अलावा कामकाज के अभाव के कारण दूरदराज के शहर, कस्बों में पलायन ही आजीविका का प्रमुख विकल्प बन गया है। गरीब श्रमिक अक्सर विभिन्न प्रकार के काम-धंधों के जरिये अपनी आजीविका चलाते हैं। यह विविधता अकसर एक बिखरे हुए श्रम बाजार के रूप में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार जब परिवार के कुछ सदस्य पलायन करते

[87]जे. पी. सिंह, *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन*, पृ. 253.

[88]https://amp.dw.com, 28/05/2021

हैं, तब न तो आवास में स्थायी स्थानांतरण होता है और न ही कृषि और ग्रामीण इलाकों के साथ संबंध पूरी तरह खत्म होते हैं। बेशक, पलायन के कई अन्य प्रकार भी हैं। अच्छे पेशेवर, शहरी क्षेत्रों के प्रशिक्षित श्रमिक और कई संपन्न लोग भी ज्यादा से ज्यादा गतिशील होते जा रहे हैं। वस्तुतः कई अध्ययनों में सामने आया है कि अप्रवासियों के मुकाबले एक समूह के तौर पर प्रवासी ज्यादा शिक्षित, ज्यादा संसाधन संपन्न और उपभोग पर अपेक्षाकृत अधिक खर्च करने वाले होते हैं। ऐसा संभवत: इसलिए क्योंकि अत्यधिक निर्धन लोगों के लिए पलायन करना भी मुश्किल होता है। हाल ही में कई लोगों ने पलायन से श्रमिकों को होने वाले फायदों पर जोर दिया है। खासकर ऐसे श्रमिक जो तुलनात्मक रूप से कमजोर आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि से आते हैं। विदेश से अर्जित धन को मूल देश के आर्थिक विकास के संभावित साधन के रूप में देखा जाता है। यही बात अंतर-क्षेत्रीय और मजदूर भेजने वाले अल्प विकसित राज्यों पर भी लागू हो सकती है। जहां एक ओर वृद्धि प्रक्रिया की प्रवृत्ति क्षेत्रीय असमानताओं को बढ़ावा देने की होती है, वहीं पलायन से पिछड़े इलाकों को मदद मिलने की उम्मीद की जाती है ताकि धीरे-धीरे वे भी बराबर आ सकें। कई अध्ययनों में सामने आया है कि मौसमी प्रवासी श्रमिक एक समय के बाद पलायन के जरिये होने वाली कमाई पर न सिर्फ जीवनयापन करते हैं, बल्कि कुछ धन भी एकत्रित कर लेते हैं।

श्रमिकों के पलायन के बारे में यह 'नव आशावाद' अल्पकालिक और वृत्ताकार अंतर-क्षेत्रीय प्रवासन को एक अलग रूप में देखता है, जहां एक ओर शहरों को अपने इन्फ्रास्ट्रक्चर पर अतिरिक्त भार डाले बिना सस्ते श्रम का लाभ मिलता है, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों को घर भेजी जाने वाली रकम का फायदा पहुंचता है। इस प्रकार शहरों में प्रवासियों का प्रवेश कुछ हद तक उन्हें गरीबी से बचने और अपने समाज की परंपराओं की जकड़ से मुक्ति पाने में मदद करता है।

3.6 प्रव्रजन संबंधी रिपोर्ट एवं आंकड़े

'अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन रिपोर्ट' संयुक्त राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक मामलों (UN Department of Economic and Social Affairs-UN DESA) के जनसंख्या विभाग द्वारा जारी की गई है। अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन 2020 की रिपोर्ट में 2000-2020 के दौरान विश्व स्तर और क्षेत्रीय स्तर पर अंतरराष्ट्रीय प्रवास से संबंधित महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है-

- यह रिपोर्ट अंतर्राष्ट्रीय प्रवासी स्टॉक डेटा सेट 2020 पर आधारित है, जिसमें अपने देश के बाहर रहने वाले व्यक्तियों की उम्र और लिंग के आधार पर उनकी संख्या के अद्यतन अनुमान प्रदान किए गए हैं।
- इस रिपोर्ट में कहा गया है कि अंतरराष्ट्रीय प्रवासियों की संख्या में पिछले दो दशकों में मजबूत वृद्धि हुई है। 2020 में अपने मूल देश से बाहर रहने वाले प्रवासियों की संख्या लगभग 281 मिलियन हो गयी है, जबकि 2000 में 173 मिलियन और 2010 में 221 मिलियन थी।
- वर्तमान में प्रवासियों की संख्या विश्व की कुल जनसंख्या का लगभग 3.6% है।
- **प्रवास का कारण:** संयुक्त राष्ट्र के जनसंख्या प्रभाग के अनुसार भारत से होने वाले प्रवास का मुख्य कारण रोजगार और पारिवारिक हैं। इसके अलावा जबरन प्रवास की स्थिति भी भारत में देखी जा सकती है, लेकिन यह संख्या कुल प्रवास के 10 प्रतिशत से भी कम रही है।
- **सर्वाधिक प्रवासी अमेरिका में प्रवास करते हैं:** 2020 तक अमेरिका को लगभग 51 मिलियन (5 करोड़ 10 लाख) प्रवासियों ने अपने प्रवास स्थान के रूप में चुना है। अमेरिका में रहने वाले प्रवासियों की संख्या पूरे विश्व के प्रवासियों की संख्या का लगभग 18% है।

- अमेरिका के बाद जर्मनी का स्थान आता है जहां लगभग 16 मिलियन प्रवासी व्यक्ति निवास करते हैं। जर्मनी के बाद सऊदी अरब में 13 मिलियन, रूस में 12 मिलियन और यूनाइटेड किंगडम में 9 मिलियन प्रवासी व्यक्ति रह रहे हैं।
- 2020 में अंतर्राष्ट्रीय प्रवासियों के शीर्ष 20 गंतव्यों देशों में से शीर्ष तीन उच्च-आय वाले और तीन उच्च-मध्यम-आय वाले देश शामिल हैं।
- **कोरोना के कारण प्रवासन में कमी:** रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2020 में कोरोना महामारी के प्रसार को रोकने के लिए लगभग सभी देशों द्वारा यात्रा और प्रवेश लगाए गए। प्रतिबंध के कारण दूसरे देशों में जाकर बसने की प्रवृत्ति में कुछ कमी देखने को मिली है। कोरोना महामारी के दौरान प्रवासन में 27% तक की कमी आयी हैं।
- इसके अलावा रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि अंतरराष्ट्रीय प्रवासियों की संख्या में वृद्धि पिछले दो दशकों में सबसे ज्यादा रही है।
- **एशियाई देशों से सबसे ज्यादा प्रव्रजन :** रिपोर्ट में कहा गया है कि अंतरराष्ट्रीय प्रवासन में होने वाला अधिकांश हिस्सा एशिया के देशों का है, जिसमें बांग्लादेश, भारत, पाकिस्तान, नेपाल और श्रीलंका से खाड़ी देशों की ओर होने वाला श्रम प्रव्रजन है।
- 2020 की अवधि में इसमें कमी भी देखी गयी है इसका प्रमुख कारण खाड़ी सहयोग परिषद के देशों में निर्माण, पर्यटन, खुदरा और परिवहन क्षेत्रों में कोरोना के कारण रोजगार की कमी रही है।

3.7 हिंदी उपन्यास और प्रव्रजन

कोई भी साहित्यिक कृति सामाजिक जीवन से अलग होकर सार्थक नहीं बन सकती। साहित्यकार की निजी विचारधारा सामाजिक परिवेश से प्रेरित एवं प्रभावित रहती है। आधुनिक जीवन के जटिल से जटिल प्रश्नों और यथार्थ को पूरी जैविकता के साथ प्रस्तुत करने का सामर्थ्य उपन्यास अपने अंदर समेटे हुए है। नब्बे के दशक के बाद जो उपन्यास लिखे जा रहे हैं, उनमें से अधिकांश उपन्यास सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि को अपने अंदर समेटे हुए हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में परिवर्तन की गति इतनी तीव्र, मारक व हिंसक रही है कि गाँव, शहर, कस्बे, परिवार सभी संरचनाएं इससे बुरी तरह प्रभावित हुई हैं। मसलन शब्द, भावनाएं, सामाजिक समरसता, पारम्परिक किस्सागोई, मनोरंजन के पारंपरिक तरीके व साधन आदि ऐसी तमाम चीजें हैं जिनकी 'बेदखली' ही इस व्यवस्था में उनकी नियति है। उपन्यास जीवन का गहन और व्यापक आख्यान है। जो अपने समय के द्वंद्व की पहचान बनता है। भूमंडलीकरण के दौर में उपन्यास में तेजी से 'तात्कालिकता' का प्रवेश हुआ है। जिसने भाषा और साहित्य दोनों को प्रभावित किया है।वर्तमान समाज में व्याप्त समस्याएं केंद्रीय चिंता के रूप में उभरकर सामने आयी हैं।

अखिलेश का उपन्यास *निर्वासन* बेदखली के तमाम रूपों को हमारे सामने रखता है। लेखक ने ब्रिटिश काल में दुर्भिक्ष से पीड़ित उत्तर प्रदेश के गोंसाईगंज नामक गाँव से प्रव्रजन कर गए एक ऐसे व्यक्ति का आख्यान कहा है जो अपने देश से बहुत दूर जा चुका है। इस उपन्यास में गोंसाईगंज के बहाने अखिलेश ने आज के ग्रामीण परिदृश्य का बड़ा ही यथार्थ वर्णन किया है। इस उपन्यास में अखिलेश ने आज के बदले हुए गाँव की बदहाली और व्यथा को तो अपनी कथा में समेटा ही है साथ ही अतीत की व्याख्या भी की है। भूमंडलीकरण और तकनीकी तंत्र की दुनिया में लेखक ने बार-बार गाँव-देहात या कस्बों की उन छोटी-छोटी चीजों को पकड़ने की कोशिश की है जिससे इस आभासी दुनिया के आडम्बरों को ध्वस्त किया जा सके।

आज हम जिस दौर जी रहे हैं वहां छोटे-छोटे शहर, कस्बे भी बड़े शहरों की नकल करने में लगे हुये हैं। ऐसे समय में लेखक ने बड़ी बारीकी से इन यथार्थों को हमारे सामने लाने का प्रयास किया है। लेखक उपन्यास में ऐसे चित्रों को वर्णित करता है जहाँ गाँव से शहरों की ओर प्रव्रजन कर रहे लोगों की स्थिति साफ़ होती दिखाई देती है। लेखक बड़ी बारीकी से उस समस्या को दिखाता है। जैसे,

> हर दो स्टेशन के बीच अनेक गाँव होते हैं। दो बड़े स्टेशनों के बीच सैकड़ों गाँव होते हैं। इन गाँवों के बहुत से लोग अपना ठिकाना छोड़कर शहर में आ बसते हैं। उस दिन क्या होगा जब गाँव खुद अपने बाशिंदों के साथ या उनके बगैर शहरों में आ जाए। रामचेतपुर, चिलबिला, पौधन, मनचीते, नगराम, पड़ेला जैसे बेशुमार गाँव न्यूयार्क, पेरिस, लंदन, वाशिंगटन, टोक्यो में आ धमकें, तो?...लेकिन इस बात में कोई संशय नहीं है कि अंतत: सारे शहर गांवों से घिरे हैं। एक रोज़ धरती के सारे गाँव सारे शहरों से गुस्सा हो उठे, तो?[89]

आज समाज में तमाम जिंदगियां एक साथ रहते हुये भी निर्वासन का दंश झेल रही हैं। वजह साफ़ है, अपनी जमीन और जड़ से लोगों का प्रव्रजन। हर जगह दिखावा, खाने से लेकर सोने तक। कथाकार ने भारत की आज़ादी के कई दशक पहले से लेकर वर्तमान समय तक के लगभग डेढ़ सौ बरस के राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य को आधार बनाकर विश्व के विशेष रूप से भारत की सामाजिक रूढ़ियों व कुरीतियों, राजनैतिक पतन, नीतिगत विसंगतियों, भ्रष्टाचार व नैतिक पतन की शिकार शासकीय प्रणाली व प्रशासनिक मशीनरी आदि का एक ऐसा खाका खींचा हैं, जिससे उसका असली चेहरा उजागर होता है। उपन्यास में निर्वासित पात्रों के चारों तरफ दिखने वाले जो परिवारजन, मित्र, सहयोगी या अन्य लोग हैं, उनके सामाजिक सरोकारों, पक्षधरताओं, विचारों तथा स्वार्थ से भरी प्रवृत्तियों को भी कथाकार ने बखूबी चित्रित करते हुए उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं,

---

[89]अखिलेश, *निर्वासन*, पृ. 105.

उपन्यास के लिए यथार्थ की खोज का मतलब किसी स्थिर, स्थाई और जड़ीभूत तथ्यात्मक यथार्थ की खोज नहीं है। यथार्थ स्थिर और स्थाई होता भी नहीं है। वह इतिहास प्रक्रिया का हिस्सा होता है। इसलिए उपन्यास में यथार्थ की खोज का मतलब है यथार्थ के गतिशील रूप की पहचान और उसकी संभावनाओं की तलाश।[90]

अखिलेश यथार्थ के इसी गतिशील रूप की पहचान करते हैं। सूर्यकांत की पत्नी गौरी को पति व बेटे से अनन्य प्रेम है, किन्तु सूर्यकांत के वापस अपने अतीत से जुड़ जाने की आशंका से उसे यह भय भी होता है कि कहीं वह उसे खो न दे। यह उपन्यास जिस प्रकार पश्चिमी आधुनिकता और दिशाहीनता को प्रस्तुत करता है वह कई नवीनताओं को लिए हुए है। इस उपन्यास में अंतर्निहित विकास बनाम विनाश का विमर्श स्वयमेव नयी अर्थवत्ता ग्रहण कर लेता है।

भूमंडलीकरण और आधुनिकता ने सबसे अधिक प्रभावित किया है मानवीय संबंधों को। ममता कालिया ने इस समस्या को 'दौड़' उपन्यास में बखूबी उठाया है। 'दौड़' शीर्षक से ही हमें यह ज्ञात हो जाता है कि यहाँ हर क्षेत्र में एक आपा-धापी मची हुई है। हर व्यक्ति आधुनिकता की इस 'दौड़' में जल्द से जल्द खुद को समर्थ बनाना चाहता है। 'दौड़' आज के उस मनुष्य की कहानी है जो बाज़ार के दबाव-समूह उनके परोक्ष-अपरोक्ष मारक तनाव, आक्रमण और निर्ममता की अंधी दौड़ में आसन्न खतरे में पड़े मनुष्य को उजागर करती है। यह उपन्यास मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों की परम्परा की पड़ताल करता है। जिस कथित आर्थिक उदारीकरण ने बाज़ार और बाज़ारवादी व्यवस्था को ताकत दी है, उसने अपने पारस्परिक रिश्तों को अनुदार, स्वार्थी और इतना अर्थ केन्द्रित बना दिया है कि आज सभी मूल्य नष्ट हो गए हैं।

उपन्यास के पात्र पवन पाण्डेय, सघन, राकेश, स्टैला जैसे लोग आज व्यवसाय जगत की परिस्थितियों में घिरकर यथास्थितिवादी बनकर रह गए हैं। सभी यह जानते हैं कि इस तेज दौड़ती जिन्दगी में किसी एक जगह बैठे रहकर अपना भविष्य बनाना संभव नहीं है। उदाहरण,

[90]मैनेजर पाण्डेय, उपन्यास और यथार्थ: एक टिप्पणी, *हंस*, जनवरी 1999, पृ. 14.

> अनिवासी और प्रवासी केवल पर्यटक और पंछी नहीं होते, बच्चे भी होते हैं। वे दौड़-दौड़ के दर्जी के यहाँ से अपने नये सिले कपड़े लाते हैं, सूटकेस में अपना सामान और कागजात जमाते हैं, मनी बेल्ट में अपना पासपोर्ट, वीजा और चंद डॉलर रख, रवाना हो जाते हैं अनजान देश-प्रदेश के सफर पर, माता-पिता को सिर्फ स्टेशन पर हाथ हिलाते छोड़कर।[91]

फिर भी इन चीजों के लिए मानवीय संबंधों में जिस तीव्रता से बदलाव आया है और रिश्तों से अधिक महत्व करियर का हो गया है। इससे यही प्रमाणित होता है कि आज के आधुनिक जीवन में वास्तव में करियर और आराम की जिन्दगी ही सब कुछ है। नई पीढ़ी के लिए बाकी सब गौण होता जा रहा है। वस्तुतः यह एक कटु सत्य है कि जबसे बाजारवाद ने पूरे समाज और विश्व पर अपना वर्चस्व कायम किया है तब से लेकर अब तक उसकी चमक धमक ने लोगों की जिंदगी को पूरी तरह से अपने में समेट लिया है। उपभोक्तावादी संस्कृति के बहाव में युवा वर्ग इतना आगे बढ़ चुका है कि पैसों से लेकर रिश्तों तक और मानवीय संवेदना से लेकर आध्यात्म तक कुछ भी अछूता नहीं रह गया है। भूमंडलीकरण के इस दौर में समस्त मानवीय संवेदनाओं का निरंतर ह्रास होता जा रहा है। जैसे, "इक्कीसवीं सदी में ये सड़े-गले विचार लेकर नहीं चलना है हमें, इनका तर्पण कर डालो।"[92] इस बाजारवादी, उपभोक्तावादी, भौतिकतावादी संस्कृति के चलते सभी रिश्तों का मर्म समाप्त हो गया है। आज रिश्ते केवल नाममात्र के रह गए हैं, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति निभाता नहीं बल्कि ढोता है।

आपसी रिश्तों से लेकर करियर की भागदौड़ तक प्रव्रजन की विभीषिका दिखाई देती है। कहीं न कहीं मानसिक स्थितियां उसे अतीत में जाने को मजबूर कर देती हैं। जैसे कि, "जब आप अपना शहर छोड़ते हैं, अपनी शिकायतें भी वहीं छोड़ आते हैं। दूसरे शहर का हर मंजर पुरानी को कुरेदता है। मन कहता है ऐसा क्यों है? वैसा क्यों नहीं है?...पर यादें हैं कि लौट-लौट आती

---

[91]ममता कालिया, दौड़, पृ. 73.
[92]उप. पृ. 63.

हैं।...ओफ नए शहर में सब कुछ नया है।"[93] सम्पूर्ण उपन्यास में लगातार एक अशांति और जीवन के प्रति एक आपाधापी दिखाई देती है औद्योगीकरण की इस अंधी दौड़ में कोई अपने घर से निर्वासित है तो कोई अपने रिश्तों से।

महानगर अपनी बाहरी चमक-दमक के साथ भीतर किस कठोरता को समाहित किए रहता है, इस तथ्य को आज का उपन्यास प्रदर्शित करता है। मायावी शहर जो देश की राजधानी है और जिसका चरित्र कुछ अलग प्रकार का ही है जबकि गाँव का अपना एक खास तरह का चरित्र होता है। गाँव से शहर की ओर आया व्यक्ति एकाएक स्वयं को समायोजित नहीं कर पाता है चूंकि शहर अजनबीपन की एक गंध लिए रहता है। गाँव और शहर के भीतर एक बहुत बड़ा अंतर संवेदना का है, उपन्यास में शहरों के इसी अजनबीपन को प्रदर्शित किया गया है। गाँव में आए संवेदना के संकट का भी प्रमुख कारण गाँव से प्रव्रजन ही है। प्रव्रजन के प्रमुख कारणों पर विचार करते हुए उपन्यासकार पाठकों के समक्ष प्रश्न रखता है कि आखिर वे कौन से कारण हैं जिससे व्यक्ति अपने रिश्तों से दूर होकर अजनबी लोगों के पास जाना ज्यादा उचित समझता है। गाँव से शहरों में आकर बसने वाले अधिकांश लोगों के व्यक्तित्व में अपने तथा अपनों के व्यवहार के प्रति एक हीनता बोध दृष्टिगत होता है। यही हीनता बोध हमे उपन्यास के नायक नायिकाओं के व्यक्तित्व में भी दिखाई देता है।

अलका सरावगी का 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास आज के दौर में उद्योग जगत और मल्टीनेशनल कम्पनियों के सत्य को हमारे समक्ष उजागर करता है। उपन्यास में दो कथाएं एक साथ चलती हैं। एक ओर केवी शंकर अय्यर और गुरुचरण के संबंधों का तानाबाना है, तो दूसरी तरफ गुरुचरण का चरित्र और भट्ट का अस्थाई जीवन है। लेखिका ने उपन्यास में भट्ट के जीवन का जो बिखराव और अस्थाई रूप दिखाया है वास्तव में वह प्रव्रजन की एक ऐसी समस्या को

---

[93]उप. पृ. 5.

उजागर करता है जिससे प्रत्येक मनुष्य ग्रसित है। उपन्यास में प्रव्रजन के कई स्तर दिखाई देते हैं विवाह की परिणति के रूप में, व्यवसाय के रूप में आदि। नव वैश्विक पूंजी और बाजारवाद का अत्यंत ही सूक्ष्म चिंतन हमे उपन्यास में दिखाई देता है। भारत के बड़ी कम्पनियों और औद्योगिक घरानों के चरित्र को भी दिखाया गया है। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न मनुष्य अपने सामाजिक और आंतरिक जीवन में पूरी तरह से विपन्न हो चुका है।

उपन्यास की कथा लगातार इस प्रश्नों से जूझती हुई चलती है। जैसे, "यों ही भटकते-भटकते चालीसी तो आ गई तुम्हें भी। जब देखो दफ्तर बदल लेते हो, नौकरी बदल लेते हो, शहर बदल लेते हो।"[94] यहाँ हर मनुष्य दूसरे मनुष्य को उपयोगितावादी दृष्टि से देखता है। भूमंडलीकरण के दौर में बाजारवादी व्यूह रचनाएं किस प्रकार भारतीय जनता की जीवनशैली में परिवर्तन लाती हैं इस तथ्य की ओर लेखिका हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में मध्य-वर्ग और झुग्गी-झोपड़ियों के निवासियों में उपभोग की लालसा किस प्रकार निरंतर बढ़ती जा रही है, जो उन्हें प्रव्रजन के लिए उत्साहित करती है। उदाहरण,

> जमाना ये दिल मांगे मोर का है, बस्तर के गांव में अपनी झोपड़ी में बैठकर आदिवासी टी.वी पर वॉशिंग मशीन में कपड़े धुलते देख रहा है और डबल डोर फ्रिज में जाने कब से ताज़ी लौकी और टमाटर की गाथा सुन रहा है। इस देश की एक अरब जनता अब एक साथ सपना देख रही है- फ़र्क यही है कि किसी के सपने छोटे हैं तो किसी के सपने बड़े हैं।[95]

उपन्यास का प्रारम्भ के.वी अय्यर के साठ साल पूरे होने की ख़ुशी में उनके जन्मदिन के समारोह से होता है। पंडितों के मंत्रोच्चारण के बीच के.वी अय्यर अपनी पत्नी के साथ विवाह की पूरी रस्में अदा करते हैं और रोज की तरह अपनी पूजा-पाठ में लग जाते हैं। वहीं दूसरी ओर अविवाहित

[94]अलका सरावगी, *एक ब्रेक के बाद*, पृ. 30.
[95]अलका सरावगी, *एक ब्रेक के बाद*, पृ. 11.

जीवन व्यतीत करने वाले गुरुचरण के जीवन में कई महिला मित्रों ने अपना स्थान बना रखा है, परन्तु कोई भी गुरुचरण का दिल झंकृत नहीं कर पाती।

उपन्यास की पहली कथा के साथ-साथ दूसरी कथा का आरम्भ पहाड़ों की निर्मल वादियों से होता है जहां गुरुचरण, निर्मला और भट्ट तीनों पहाड़ों की सैर पर दिखाई देते हैं। गुरुचरण निरंतर कॉर्पोरेट जगत से जुड़ा रहता है साथ ही इसके विपरीत गुरु बनकर जीवन जीने का निर्णय लेता है उसका यह निर्णय वास्तव में विकास की तथाकथित अंधी दौड़ का एक मौन प्रतिशोध है। भट्ट का चरित्र सम्पूर्ण उपन्यास में एक क्षेत्र से दूसरे की ओर प्रव्रजन करने में बीतता है जहां एक ओर अशांति का अभाव दिखाई देता है तो दूसरी ओर जीवन के प्रति विवशता। उदाहरण, "भट्ट के पास वापस उसी शहर लौट आने के अलावा कोई चारा नहीं था, जहां उसके पिता पचपन साल से विक्टोरिया मेमोरियल में एक ही दिशा में घूम रहे थे। वह फिर अपना निर्वासन पूरा कर कलकत्ता लौट आया।"[96] हिंदी में यह एक नए ढंग का उपन्यास है इसमें समय जिस नए रूप में उपस्थित हुआ है उसमें पात्रों का आंतरिक संसार और स्मृतियां अत्यंत संवेदनशीलता के साथ आई हैं इसमें स्मृति, समाज और समय के मध्य एक गहरा संवाद स्थापित किया गया है।

'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में अलका सरावगी ने कॉर्पोरेट जगत को विषय-वस्तु का आधार बनाते हुए व्यक्ति के सपने, जिज्ञासा, भ्रम और मानव मन की उलझनों को उत्तर-आधुनिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। बाजार एक तरफ सामान्य व्यक्ति को सपने दिखाता है, जिसको पूरा करना उसके लिए कठिन है, पर फिर भी वह उसे पूरा करने की दौड़ में लग जाता है। वहीं दूसरी तरफ बाज़ारवाद व्यक्ति को केवल एक वस्तु के रूप में देखता है, जो मात्र अपना उत्पाद बेचने से मतलब रखता है। मानवीय संवेदना किस प्रकार वस्तुवादी दृष्टि में परिवर्तित हो

[96]अलका सरावगी, *एक ब्रेक के बाद*, पृ. 83.

रही है उसका एक दस्तावेज बनकर यह उपन्यास पाठक के सामने आता है। हर छह महिने में नये शहर में नई नौकरी के लिए भटक रहे उपन्यास के चरित्र 'असंगतिपूर्ण संगति' की उत्तर-आधुनिक स्थिति को ही प्रस्तुत करते हैं। गुरु का रहस्यमय जीवन उपन्यास के अन्य पात्रों में जिज्ञासा और भ्रम का मायाजाल बनाते हैं जिसमें विचारधाराएं स्वाहा हो जाती है और महावृत्तांतों को करारी चोट मिलती है। ईर्ष्या मुक्त प्रेम में किसी तीसरे का सहज स्वीकार करते हुए प्रेम का जो रूप इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है वह न केवल प्रेम की परंपरावादी विचारधाराओं से मुक्ति दिलाता है बल्कि नारीवादी विमर्श को भी प्रस्तुत करते हुए नारी की पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा भी करता है।

उपन्यास के उत्तरार्ध में आदिवासी समूहों को प्रधानता देकर परिधि पर स्थित समूह को केन्द्र में लाया गया है जो उत्तर-आधुनिकता की प्रमुख पहचान है। के.वी की डायरियों का पाठ एक उत्तर-आधुनिक पाठ है जो के. वी. को उलझाकर रख देता है, क्योंकि अतियथार्थ संकेतो से पकड़ना पडता है। इस प्रकार यह उपन्यास उत्तर-आधुनिकतावाद को प्रस्तुत करता है। जो इक्कीसवीं सदी से पूर्णत: प्रभावित है। कथा में आर्थिक परिवेश दर्शाता के. वी का वाक्य दिखाता है कि वर्तमान दौर में आर्थिक कठिनाई कैसे जोर पकड़ रही है। भारत में बेरोजगारी इस कदर बढ़ गयी है कि अब अधिकांश मजदूर भी भारत के बजाए विदेशों में जाकर मजदूरी करना बेहतर समझते हैं क्योंकि वहां उन्हें उनके हिसाब से अच्छा पारिश्रमिक मिल जाता है। अमेरिका के लोगों के लिए बच्चों का सस्ता होमवर्क, सस्ती मजदूरी और अब सस्ती प्रार्थना करने के लिए भी इंडिया हाज़िर है।

अलका सरावगी ने 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' में विस्थापन की समस्या को केंद्र में रखा है परन्तु साथ ही प्रव्रजन मूलक कारकों की भी पड़ताल की है। लेखिका प्रतिभा प्रव्रजन की समस्या पर बल देती हुई बताती हैं कि किस प्रकार भारत में प्रतिभाएं अन्य देशों में जाकर अपनी

सेवाएं दे रही हैं। जैसे, "पांच हज़ार साल पुरानी यह सभ्यता अपना मन लगाने के लिए जाने कितने पुराण, कथाएं, किंवदंतियाँ बना चुकी है और फ़िर भी बनाती जा रही है। इसीलिए इस देश में विज्ञान की कोई जगह नहीं। सारे वैज्ञानिक-डॉक्टर-इंजीनियर मौका लगते ही विदेश भाग लेते हैं।"[97] भारतीय छात्र अच्छी शिक्षा के उद्देश्य से विदेशों की ओर रुख तो करते हैं परन्तु अच्छे अवसर पाकर वहीं बस भी जाते हैं जैसे, "आज़ादी के तेईस साल बाद भी देश में इतने इंजीनियर नहीं हुए हैं कि छोटी-मोटी मशीनों की मरम्मत सही ढंग से हो सके।...मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी में विभिन्न विभागों में तकरीबन तीन सौ भारतीय विद्यार्थी थे, पर उसकी जानकारी में उसके अलावा सिर्फ दो ही और थे, जो भारत लौटे।"[98] वर्तमान समय में विदेशी सरकारें भारतीय प्रतिभाओं को अपने देश में अवसर देने के लिए तमाम प्रकार की स्कीमें लागू करती है। "अमेरिका यूनिवर्सिटी इसी उद्देश्य से भारतीय विद्यार्थियों को स्कॉलरशिप देकर बुलाती है। अब जब वह यहाँ वापस आ ही गया है, तो क्या उसका या उसकी पीढ़ी के इंजीनियरों का यह कर्तव्य नहीं है कि हम अपनी चीजों को दुनिया की टक्कर का बनाएं।"[99] वर्तमान समय में प्रतिभा-पलायन एक बेहद गंभीर समस्या के रूप में हमारे देश में विद्यमान है। जिसे लेखिका ने उपन्यास में स्थान-स्थान पर चित्रित किया है।

धीरेन्द्र अस्थाना अपने उपन्यास 'देश निकाला' में विस्थापन के साथ-साथ प्रव्रजन के चित्र की खींचते दिखाई देते हैं। भूमंडलीकरण की चर्चा करते हुए लेखक ने सर्वप्रथम समाज में पनप रही अमीर और गरीब में बढ़ती खाई को दिखाया है और इसी के साथ लोगो की प्रव्रजन करने की क्रिया के पीछे के कारण को स्पष्ट भी किया है। बाबरी मस्जिद के विध्वंस और बम विस्फोटों के बाद एक आम धारणा बनने लगी थी कि चालों में जीवन सुरक्षित नहीं है। और

[97]अलका सरावगी, *जानकीदास तेजपाल मैनशन*, पृ. 31.

[98]उप. पृ. 118.

[99]उप. पृ. 123.

परिणाम यह हुआ कि अधिकांश लोग चालों को छोड़कर दूसरे शहरों में प्रव्रजन करने लगे। उपन्यास में लेखक ने 'फेज़-सिक्स' जगह का जिक्र किया है। यही वह जगह थी जिस तरफ लोग दौड़े। लेकिन जैसे-जैसे भूमंडलीकरण और बाजारवाद का प्रभाव बढ़ने लगा लोगों को यह जगह भी रास नहीं आई। जहां लोग 'फेज सिक्स' में एक परिवार की तरह रहने लगे थे अब वहां संबंधो में एक तनाव और दूरी घर करने लगी। जैसे कि,

> लोगों में अलगाव, उदासीनता और तनाव का जन्म हुआ। तनख्वाहें बढ़ने लगीं, जिम्मेदारियां घटने लगीं। लोग अकेला जीवन जीन लगे। दिन अठारह से बीस घंटे दफ्तरों में रहने लगें। वैवाहिक जीवन में दरारे आनी शुरू हो गयीं। जीवन कठिन होने लगा, रिश्ते ऊब पैदा करने लगे।...मूल निवासी ज्यादा सुविधापूर्ण उपनगरों की तरफ़ निकल गए...सन् 2002 में जब की यह कहानी है, फेज़ सिक्स के चार सौ में से साढ़े तीन सौ मूल निवासी अपना फ्लैट बेच कर पलायन कर गये थे।"[100]

लेखक मुम्बई शहर को कथा की पृष्ठभूमि बनाकर फ़िल्मी दुनिया के मायावी चेहरे के साथ-साथ आम जन-जीवन में आए बदलावों को भी बड़ी जीवंतता के साथ दिखाते हैं।

मनीषा कुलश्रेष्ठ का उपन्यास 'शिगाफ़' कश्मीरी निवासियों की विस्थापन भरी दास्तान कहने के साथ-साथ उनकी प्रव्रजन संबंधी विवशता को भी पाठकों के सामने रखता है। राज्य के अधिकांश लोग आतंकवाद की समस्या से भयभीत होकर अपनी जीवन इच्छाओं को संजोए हुए अन्य राज्यों तथा देशों में प्रव्रजन के लिए मजबूर हो जाते हैं। कश्मीर घाटी में लोगों की जीवन-शैली कैसे व्यतीत हो रही है? भय का क्या माहौल है? लोग अपना जीवन किस प्रकार बिता रहे हैं आदि तमाम प्रश्नों को लेखिका उपन्यास में स्थान देती हैं। उपन्यास में कश्मीर से विस्थापित और प्रव्रजन कर चुके लोगों के आपसी ब्लॉग के सहारे स्थिति को दिखाने का प्रयास किया गया है। जैसे, "मैं सन्न हूं। कश्मीरी हिन्दुओं के लिए कश्मीर से निस्पृह हो पाना कितना मुश्किल है। वे उससे जुड़ी हर खबर देखते हैं और तुरंत प्रतिक्रिया करते हैं लेकिन शेष पूरी दुनिया इस सबसे

[100]धीरेंद्र अस्थाना, *देश निकाला*, पृ. 17-18.

असंपृक्त और चुप है।"[101] लेखिका शिगाफ़ के माध्यम से एक ऐसी दरार की ओर इंगित करती हैं जहां धर्म की आड़ में लोगों का जीवन बदहाल हो चुका है।

राजनीतिक हित को साधने के लिए न्याय का चोला पहने अनेक नेता-राजनेता कश्मीर की समस्या का जायजा लेते हैं परंतु प्रव्रजन का दंश सह रहे कश्मीरी जनता से किसी को कोई सहानुभूति नहीं है। उदाहरण, "एक बड़े जनसमूह पर 'आघात' हो चुका...वे पलायन कर चुके...बल्कि उन्हें पलायन किए हुए सालों-साल बीत चुके हैं, तब तो नेशनल ह्यूमन राइट्स कमीशन की नींद नहीं खुली थी। नींद खुली तो जो देखा वही सच...जो किस्सों में, किताबों में छपा वह किसने माना?"[102] यह उपन्यास कश्मीर से प्रव्रजन कर गए लोगों की पीड़ा को उजागर करता है। अपनी संस्कृति और जमीन से जुड़े रहने और उससे दूर हो जाने का दर्द उपन्यास में लगातार बना रहता है।

वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'डूब' नब्बे के दशक अर्थात् भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के कुछ वर्षों बाद ही प्रकाश में आया था। लोग धीरे-धीरे गाँव से शहरों की ओर प्रव्रजन तीव्र गति से करने लगे थे। बेहतर शिक्षा के लिए महानगरों की ओर प्रव्रजन किया जा रहा था। "रामदुलारे जा रहा है गाँव छोड़कर। मतारी को छोड़कर। आंधरे कक्का को छोड़कर। अट्टू साव के साथ जा रहा है रामदुलारे। भोपाल में पढ़ेगा कि दिल्ली में अभी तय नहीं है। भोपाल पहुंचकर तय करेंगे अट्टू साव।"[103] उपन्यासकार ने प्रव्रजन की इस समस्या की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के साथ-साथ यह भी दिखाया है कि वह अपने पीछे जिन बड़े-बुजर्गों को छोड़ जाता है उनकी क्या दुर्दशा होती है।

---

[101]मनीषा कुलश्रेष्ठ, *शिगाफ़*, पृ. 23.

[102]उप. पृ. 20-21.

[103]वीरेंद्र जैन, *डूब*, पृ. 163.

भूमंडलीकरण के दौर में लिखे जा रहे उपन्यासों में आर्थिक और राजनीतिक स्तर से आगे बढ़कर मनुष्य के उस सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष को आधार बनाया जा रहा है। जहां उसकी जीवनानुभूति को प्रभावित करने वाले कारकों में प्रव्रजन एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में उभरकर सामने आया है। वर्तमान यथास्थिति ने पारिवारिक मूल्यों, आपसी संबंधों को पूरी तरह से बदलकर रख दिया है। जहां व्यक्ति ऐसी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व कर रहा है जिसके केंद्र में आधुनिकता और आर्थिक पक्ष है। इसलिए लगातार वह अपनी ही सीमाओं और रिश्तों से निर्वासित होता जा रहा है। प्रव्रजन के कारणों और उनसे उत्पन्न होने वाली मनोदशा को आज के उपन्यासों में बारीकी के साथ चित्रित किया जा रहा है। वर्तमान समय में लिखे जा रहे उपन्यासों में स्वतंत्रता के पश्चात हुए प्रव्रजन और वर्तमान समय में हो रहे प्रव्रजन का अंतर स्पष्ट दिखाई देता है।

आज़ादी के बाद बदहाली और तंगी का जीवन बिता रही जनता ने अपनी बेहतरी के लिए प्रव्रजन का सहारा लिया जिसका सकारात्मक प्रभाव भी देखने को मिला। रोजगार के अवसर भी बढ़े और लोगों को कुछ हद तक जीवन-निर्वाह करने का एक सहारा भी। परन्तु नब्बे के दशक के बाद बाजारवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य को अधिक प्रतिस्पर्धी बना दिया है जहाँ वह हर क्षेत्र में दूसरों से आगे निकलने की होड़ में लगा हुआ है। ऐसी स्थिति में भारत में प्रव्रजन की क्रिया ने अब एक समस्या का रूप ले लिया है। जिसे हिंदी उपन्यासों में लेखक अलग-अलग प्रकार से चित्रित कर रहे हैं।

चतुर्थ अध्याय

विस्थापन की अवधारणा

और

समकालीन हिंदी उपन्यासों में विस्थापन की समस्या

विस्थापन की अवधारणा

मनुष्य का विकास पच्चीस लाख वर्ष पहले पूर्वी अफ्रीका में वानरों के आरंभिक जीनस ऑस्ट्रालोपिथीकस से हुआ था। जिसे हम दक्षिणी वानर के नाम से जानते हैं। लगभग बीस साल पहले इनमे से कुछ पुरुष और स्त्रियां अपनी मातृभूमि छोड़कर उत्तरी अफ्रीका, यूरोप और एशिया के इलाकों में बसने के लिए चली गयीं। इस प्रकार मनुष्य की आबादी विभिन्न दिशाओं में विकसित हुई। जिस समय ये आदिम जातियां यूरोप और एशिया में विकसित हो रही थीं, तब पूर्वी अफ्रीका में विकास की प्रक्रिया भी थमी नहीं थी। दरअसल सेपियन्स, निएंडरथल्स और डेनीसोवन्स अलग-अलग प्रजातियाँ हैं। जहां सेपियन्स अपनी सामाजिक दक्षताओं के कारण शिकार करने में ज्यादा कुशल थे वहीं निएंडरथ्ल्स थोड़े कमजोर थे। यही कारण था कि वे धीरे-धीरे लुप्त होते गए। एक और संभावना को देखते हुए यह कहा जाता है कि संसाधनों को हासिल करने की होड़ ने हिंसा को जन्म दिया। चूंकि मानवशास्त्री ये मानते हैं कि सहिष्णुता सेपियन्स की विशेषता नहीं है। आधुनिक युगों में चमड़ी का रंग, बोली, धर्म आदि का भेद एक दूसरे के समूह का विनाश करने के लिए काफ़ी है। युवाल नोआ हरारी लिखते हैं, "आदिम मनुष्यों के व्यवहार के ढाँचे दसियों हजार वर्षों तक जस के तस बने रहे, वहीं सेपियन्स अपनी सामाजिक संरचनाओं

को, अपने पारस्परिक संबंधों की प्रकृति को, अपनी आर्थिक गतिविधियों को और ढेरों दूसरे व्यवहारों को एक-दो दशकों के भीतर बदल सके।"[104]

वर्तमान मानव की उपजाति को 'होमो सैपियन्स' के नाम से जाना जाता है। जिसका उद्भव दस हजार वर्ष पूर्व कैस्पियन सागर के निकट हुआ। धीरे-धीरे मनुष्य ने जीविकोपार्जन और सांस्कृतिक विकास की ओर अपने कदम बढ़ाने शुरू किए। मनुष्य सभ्य बना और उसने अपने लिए भौतिक और आर्थिक संसाधनों को जुटाना प्रारम्भ किया। इससे आवागमन की प्रक्रिया में गति आई। मनुष्य को अपनी अस्मिता और अस्तिव का भान हुआ। उसकी गतिशीलता ने उसे विकास की ओर अग्रसर किया। विकास के क्रम में मनुष्य ने जिन उपादानों को विकसित किया था। आधुनिक औद्योगिक विकास ने पिछली तीन शताब्दियों में सबको समेट कर एक ऐसी दिशा दी है, जिसने आर्थिक लाभ को सर्वोपरी बना दिया है। आज हमारे समाज को 'विकास' की अवधारणा ने पूरी तरह बदलकर रख दिया है जहां बिजली, सड़क, कारखानों की स्थापना, शहरों में नई-नई अट्टालिकाओं का निर्माण, आसानी से सामानों की उपलब्धता इसके परिचायक हैं वहीं वर्तमान समय में विकास के स्वरूप ने एक नई अवधारणा को गढ़ा, जो ये कहती है कि विकास के लिए 'विस्थापन' आवश्यक है।

रमणिका गुप्ता अपनी पुस्तक के संपादकीय में लिखती हैं,

> देश में आदिवासियों की मुख्य समस्या विस्थापन रही है, वे पहले भी खदेड़े जाते रहें हैं, आज भी खदेड़े जा रहे हैं। ये खदेड़ना सदियों से चालू है, बस केवल रूप या तरीका बदल गया है। वे उजड़ रहे हैं। जंगल, जल, जमीन- इन तीन महत्वपूर्ण मूल अधिकारों से वंचित हो रहे हैं। और विडम्बना यह है कि ये सब हो रहा है उनके विकास या उनकी स्थिति में सुधार के नाम पर।[105]

---

[104]युवाल नोआ हरारी, अनु. मदन सोनी, *सेपियन्स: मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास*, पृ. 44.
[105] रमणिका गुप्ता (संपा.), *आदिवासी विकास से विस्थापन*, पृ. 10.

विस्थापन को एक नियत कालिक घटना मान लिया जाता है जबकि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो विस्थापन से काफी समय पहले शुरू हो जाती है और विस्थापन के बाद लंबे समय तक चलती है। मूल अर्थ में जब व्यक्ति या समुदाय को उसके निवास स्थान से दवाब डालकर हटाया जाता है या बल का प्रयोग किया जाता है तो वह विस्थापन कहलाता है। एक काल को विस्थापित कर दूसरा काल दाखिल होता है। एक अवधारणायुक्त स्मृति को मिटाती हुई दूसरी स्मृति आती है। कई बार कई प्रसंगों में विस्थापन इतना बे-आवाज और अमूर्त होता है कि उसकी भनक तक नहीं मिलती पर चीजें विस्थापित होती रहती हैं। हम वक़्त की रफ़्तार में चीजों को पकड़ नहीं पाते और उससे अनुकूलित होते जाते हैं। जो अनुकूलित नहीं हो पाते, वे अन्य तरीके से 'विस्थापित' हो जाते हैं। विस्थापन के अनेक कारण हैं जैसे प्राकृतिक कारणों में भूकंप, चक्रवात, बाढ़ अथवा सुनामी आदि। इसके अतिरिक्त मानव निर्मित कुछ ऐसे क्रियाकलाप और परियोजनाएं हैं जो विस्थापन की समस्या को जन्म देती हैं।

- जल विद्युत उत्पादन और सिंचाई के लिए बांधों का निर्माण।
- हवाई अड्डों व मेट्रो का निर्माण।
- नगर और बंदरगाहों का निर्माण।
- नगरीय संरचना का निर्माण और सुधार।
- खादान प्रक्रिया की शुरुआत।
- शत्रु देश का आक्रमण।
- धार्मिक असहिष्णुता आदि।

वर्तमान समय में विस्थापन की सीमाएं कहां-से-कहां तक हैं यह कह पाना मुश्किल है लेकिन विस्थापन को बाजारवाद और भूमंडलीकरण ने गहरे प्रभावित किया है। आज के दौर में

जिस स्तर पर विस्थापन हो रहा है। अगर ऐसे ही चलता रहा तो 'कलिंगनगर', 'बस्तर', 'नंदीग्राम' जैसी भयावह घटनाएं पुन: उभरकर सामने आयेंगी। विस्थापन कई स्तरों पर घटित होता है जो निम्न है- समाज के स्तर पर, पारिवारिक स्तर पर, अनुभव के स्तर पर, भावनाओं के स्तर पर आदि। हिंदी कथा साहित्य में इस समस्या को निकट से देखने का प्रयास किया गया है। देश के विभाजन के बाद साम्प्रदायिकता के कारण हजारों लोगों को विस्थापित होना पड़ा। स्वतंत्रता के पश्चात् नेहरु के विकास मॉडल के आधार पर अनेक योजनाओं को लागू किया गया। बड़े-बड़े कारखानों, बिजली संयंत्रों और बांध आदि का निर्माण कार्य शुरू किया गया। स्वाभाविक है कि इन योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए लिए भी लोगों को विस्थापित किया गया। वर्तमान समय में भूमंडलीकरण ने विस्थापन के अधुनातन रूप को जन्म दिया है। विस्थापन के अनेक आयाम हिंदी उपन्यासों का विषय बन रहे हैं।

4.1 वैश्विक स्तर पर विस्थापन

दुनिया में विभिन्न कारणों से हर साल लाखों लोगों का आशियाना उजड़ जाता है दूसरी ओर बढ़ती आबादी और कम होते संसाधनों की वजह से कई गरीब देशों की जनता को प्रव्रजन का सहारा भी लेना पड़ता है। म्यांमार, बांग्लादेश, मलेशिया, सीरिया, लीबिया, अफ़गानिस्तान, दक्षिण अफ्रीका, ट्यूनीशिया, यूनान, सूडान आदि देशों में लोग भिन्न-भिन्न कारणों से विस्थापित हो रहे हैं या प्रव्रजन कर रहे हैं। ऐसे में विस्थापन और प्रव्रजन के साथ एक अन्य समस्या का भी जन्म होता है। विस्थापित लोग जिन देशों की ओर रुख करते हैं वहां की व्यवस्था उन्हें पूर्ण रूप से आश्रय नहीं दे पाती, साथ ही कुछ असामाजिक तत्वों के अत्याचारों से भी उन्हें गुजरना पड़ता है। इन कारणों को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ ने 20 जून 2001 से 'विश्व शरणार्थी दिवस'

मनाने की शुरुआत की। जिससे विश्व के राष्ट्रों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो सके और लोगों तक यह संदेश जाए कि कोई भी मनुष्य अमान्य नहीं है चाहे वह किसी भी देश का हो। विस्थापन मुख्य रूप से एक सामाजिक समस्या है। इसका संबंध सिर्फ लाभ-हानि, राहत आदि से जोड़कर नहीं देख सकते। चूंकि विस्थापन ने ग्रामीण समाज के सहज-सरल स्वभाव को पूरी तरह उलझा कर रख दिया है।

मुआवजे और राहत ने पारिवारिक संबंधों को भी खोखला बना दिया है। वर्ग, लिंग, जाति, भाषा और धर्म के अनुसार आंतरिक विस्थापन की दर में अंतर देखा गया है। महिलाओं में विस्थापन की दर सबसे अधिक है। जे.पी. सिंह ने अपनी पुस्तक में लिखा है,

> एनएसएसओ (2007-2008) के आंकड़े बताते हैं कि आंतरिक विस्थापितों में अस्सी फीसदी महिलाएं शामिल हैं। इसकी बड़ी वजह विवाह के बाद बाहर निवास करना भी माना गया है। इसी आंकड़े के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों में 91.3 फीसदी महिलाएं और शहरी क्षेत्रों में तकरीबन 60.8 फीसदी महिलाएं शादी के बाद दूसरी जगह रहने के लिए चली जाती हैं।[106]

विश्व में सीरिया के गृहयुद्ध के कारण विस्थापितों की संख्या सर्वाधिक बढ़ गयी है। यह अब तक का सबसे बड़ा विस्थापन है।यूएनएचसीआर का कहना है कि 2020 की पहली छमाही के प्रारंभिक आंकड़ों से पता चला है कि सीरिया, डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ऑफ कांगो, मोजाम्बिक, सोमालिया और यमन में युद्ध और हिंसा के कारण ताजा विस्थापन हुआ है। अफ्रीका के केंद्रीय साहेल क्षेत्र में भी ताजा विस्थापन देखने को मिला है। वहां क्रूर हिंसा, बलात्कार और हत्याएं बढ़ीं हैं, जिससे लोग घर छोड़ कर भाग रहे हैं। ग्रैन्डी के मुताबिक, "जबरन विस्थापन की संख्या पिछले एक दशक में करीब दोगुनी हो चुकी है, वहीं अंतरराष्ट्रीय समुदाय शांति सुनिश्चित करने में विफल हो रहा है।"[107] इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में रोहिंग्या

[106]जे.पी. सिंह, *समाजशास्त्र, अवधारणाएं और सिद्धांत*, पृ. 608.

[107] https://www.dw.com/hi/over-80-mn-people-displaced-a-bleak-milestone-un

मुसलमानों को हिंसात्मक विस्थापन का दंश सहना पड़ रहा है। म्यांमार से मलेशिया, बांग्लादेश और भारत की ओर रूख करते रोहिंग्या मुसलमानों की बड़ी दयनीय स्थिति है। इन्हें व्यापक पैमाने पर भेदभाव और दुर्व्यवहार का भी सामना करना पड़ता है। बांग्लादेशी इन रोहिंग्या मुसलमानों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। भारत में भी कई रोहिंग्या समुदाय निवास कर रहे हैं परन्तु भारत के कुछ सत्ताधारी दल इन्हें भारत से भी खदेड़ना चाहते हैं। म्यांमार चूंकि बौद्ध बहुल देश है और वह प्रारम्भ से इन रोहिंग्या मुसलमानों को अवैध अप्रवासी मानता रहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व विस्थापन का दंश झेल रहा है।

वैश्विक स्तर पर विस्थापन की समस्या के पीछे अलग-अलग कारक काम करते हैं, जिसमें कुछ खास कारणों के चलते समुदायों और लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए विवश होना पड़ता है। अलगाववादी आंदोलन, पहचान आधारित स्वायत्तता, आतंकवाद, औद्योगीकरण, जाति आधारित विवाद और पर्यावरण आदि विस्थापन के प्रमुख कारण हैं। सयुंक्त राष्ट्र संघ के आंकड़े बताते हैं कि सिर्फ सीरिया के गृहयुद्ध में 60 लाख से अधिक लोग विस्थापित हुए हैं। एंटोनियों गुटेरेस कहते हैं,

> दुनिया ज्यादा हिंसक हो रही है और ज्यादा लोग अपने घर छोड़ने को मजबूर हो रहे हैं।...इतने सारे लोगों की पीड़ा, बेगुनाह लोगों को मरते देखना, मासूमों को अपना घर छोड़ कर भागते हुए देखना, इतने सारे निरीह लोगों का अपनी जिन्दगी को पूरी तरह बिखरते हुए देखना और दुनिया का इसको रोक पाने की असमर्थता वाली परिस्थिति मुझे निराश करती है।[108]

विश्व में हो रहे जलवायु परिवर्तन के कारण भी विस्थापन की समस्या गहराती जा रही है। गर्म होती धरती, ख़राब मौसम और संघर्षों के कारण वर्तमान समय में एशिया और अफ्रीका में रहने वाले लोग सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं। चार करोड़ से अधिक लोगों को अपने घर से बेघर होना पड़ा है। भारत भी इनमें शामिल है। बढ़ते तापमान ने जलवायु परिवर्तन को और अधिक तेज

[108] www.bbc.com/HINDI/international/28/06/2014/140620-ww2_vs

कर दिया है। जेनेवा स्थित शोध संगठन का अनुमान है कि वर्तमान समय से कुछ पीछे वर्षों में यदि देखें तो पांच करोड़ से अधिक लोग अपने ही देश में विस्थापित हुए हैं। यह संख्या दुनिया के कुल शरणार्थी की संख्या से दोगुनी है। बड़े पैमाने पर जीवाश्म ईधन का इस्तेमाल करने से मौसम में अस्वाभाविक रूप से परिवर्तन आया है। यही कारण है कि बाढ़, तूफ़ान, उपज की कमी, सूखा आदि आपदाएं निरंतर बढ़ती जा रही हैं और लोग लगातार विस्थापित हो रहे हैं। एशिया में बदलते मौसम के कारण आई बाढ़ ने लोगों को सबसे अधिक प्रभावित किया है। चीन, भारत, बांग्लादेश, वियतनाम, फिलीपिंस और इंडोनेशिया आदि देशों में अधिकांश लोग समुद्र तट और डेल्टाओं पर अपना जीवनयापन करते हैं। समुद्र में हो रही वृद्धि भी बाढ़ का एक अहम् कारण साबित हुई है।

अफ्रीका में, अधिकांशत: विस्थापन हिंसा और संघर्ष के कारण हुआ है। इथोपिया जैसे अन्य देशों में भी युद्ध हो रहे हैं। जिसमें लाखों लोग लड़ते हुए अपना घर छोड़कर भाग गये थे। वहीं दूसरी ओर भारी बारिश के कारण सोमालिया, सूडान, दक्षिण सूडान और नाइजर जैसे देशों में पहले से ही विस्थापित लोगों को फिर से पलायन करने के लिए मजबूर कर दिया है। केन्या में संयुक्त राष्ट्र की इंटरनेशनल ऑर्गनाइजेशन फॉर माईग्रेशन की क्षेत्रीय जलवायु विशेषज्ञ लिसा लिम केन का कहना है, "ग्रमीण क्षेत्रों से आने वाले प्रवासियों को शहर के उन इलाकों में बसने के लिए मजबूर किया जाता है जहां रहना सुरक्षित नहीं होता और जहां बाढ़ और अन्य खतरे होते हैं। हालांकि, इनके लिए काफी कुछ किया जा सकता है।"[109] दरअसल जलवायु परिवर्तन और विस्थापित लोगों के आपसी संबंधों को जानने का प्रयास नहीं किया जाता है। समुद्र के जल स्तर और धीमी गति से आने वाले पर्यावरणीय संकटों के कारण हर वर्ष लाखों लोगों का आशियाना उजड़ जाता है और यह स्थिति सिर्फ गरीब देशों की नहीं है अपितु अमीर देश भी इसका शिकार

[109] https://p.dw.com/P/3u7RK,28/05/2021

हो रहे हैं। इसमें कोई दोराय नहीं है कि भूमंडलीय अर्थव्यवस्था के बढ़ते प्रभाव ने पर्यावरण को क्षति पहुंचाई है। यही कारण है कि पूंजीवादी व्यवस्था और विस्थापित किये जा रहे लोगों में एक द्वंद्व उभरकर सामने आ रहा है। इसी ग्लोबल पूंजीवादी की स्वार्थ लोलुपता को साहित्य में उपन्यास के माध्यम से दिखाया गया है। वैश्विक स्तर पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का भारत में निवेश और बढ़ती बेरोजगारी विस्थापन से जुड़े तमाम प्रश्नों को हमारे सामने रखती है।

4.2 भारत में विस्थापन की समस्या

आजादी के बाद भी पूंजीपति वर्गों की धनलिप्सा का सिलसिला थमा नहीं। धीरे-धीरे राजनीतिक, सामाजिक समीकरण बदलते गए। आर्थिक विकास की होड़ ने मानवीय अधिकारों का हनन किया और इस प्रक्रिया में भूमि और प्राकृतिक संसाधनों को भी दोहन हुआ। 1980 के दशक से राजकोषीय घाटा, भुगतान शेष का संकट, श्रम की कमी और अर्थव्यवस्था में भारी गिरावट आना शुरू हो गयी। इस दौर में ऐसे प्रमुख कारक रहे, जिससे 1991 में आर्थिक सुधार के लिए एक नए रास्ते का चुनाव किया गया। जिसके अंतर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था का शेष विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण हो गया। जिसे भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण के नाम से जाना जाता है। अर्थव्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हुए।हालांकि ये प्रक्रिया अत्यंत प्राचीन मानी जाती है। हरारी ने लिखा है,

> वाणिज्य, साम्राज्य और सार्वभौमिक मज़हब अंततः प्रत्येक महाद्वीप के लगभग प्रत्येक सेपियन्स को उस भूमंडलीय जगत में ले आए थे, जिसमें हम आज रहते हैं। यह नहीं कि विस्तार और एकीकरण की यह प्रक्रिया एकरैखिक या निर्बाध रही, लेकिन व्यापक तस्वीर को ध्यान में रखें, तो अनेक छोटी

संस्कृतियों से थोड़ी-सी बड़ी संस्कृतियों और अंततः एक एकल भूमंडलीय समाज में प्रवेश शायद मानव इतिहास की गति का एक अपरिहार्य परिणाम था।[110]

भारतीय अर्थव्यवस्था अब 'नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' से संचालित होने लगी। भूमंडलीकरण के साथ-साथ उदारीकरण और निजीकरण का भी जिक्र किया जाता है। उदारीकरण के अंतर्गत भारत ने अर्थव्यवस्था के सभी अंगों जैसे उद्योग, व्यापार आदि के प्रति उदार नीति अपनायी तथा संबंधित नियमों और कानूनों को आसान बनाया। वहीं दूसरी ओर सरकारी उपक्रमों में निजी क्षेत्र की हिस्सेदारी को बहाल कर निजीकरण की प्रक्रिया को अपनाया गया। विदेशी पूँजी और व्यापार से सभी प्रकार के प्रतिबंध हटा दिए गए। भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया ने प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया। विशेषकर महानगरों के समीप रहने वाले कृषि भूमि मालिकों और आदिवासी वर्ग को। चूंकि औद्योगीकरण के लिए पूंजीपति वर्ग को भूमि की आवश्यकता थी। सरकार भी प्रयासरत थी कि वह सस्ती दर पर भूमि खरीद कर पूंजीपतियों को बेच सके। धीरे-धीरे भूमि पर कब्ज़ा भी किया जाने लगा। इन सभी क्रियाकलापों ने विस्थापन की समस्या को तीव्र गति से बढ़ाया।

1991 से दुनिया की कुछ विशाल कम्पनियां भारत में निवेश कर रही हैं। इनमें रियो टिंटो जिंक (ब्रिटेन), बीएचपी (औस्ट्रेलिया), एलकॉन (कनाडा), डी बीयर्स (दक्षिण अफ्रीका), रेथियोन (अमेरिका) आदि। इन कम्पनियों के द्वारा किये गए अवैध खनन ने भारत के आदिवासी क्षेत्रों को बदतर स्थिति में पहुंचा दिया है। मनोज सिन्हा ने अपनी पुस्तक में दिखाया है,

पश्चिम बंगाल में विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाने के लिए सिंगूर में किसानों की जमीन बाज़ार के मूल्य से कुछ अधिक और उनके परिवार में से एक व्यक्ति को स्थापित फर्म में नौकरी के आश्वासन के साथ ज़मीन खरीदने का दवाब डाला गया।...इसे सभी भारतीय राज्यों में पूरा किया जा रहा है। जैसे उत्तर प्रदेश के

---

[110]युवाल नोआ हरारी, अनु. मदन सोनी, *सेपियन्स: मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास*, पृ. 257.

एनसीआर नोएडा, दादरी, दनकौर, गुडगाँव, पानीपत... इन कृषि योग्य क्षेत्रों में एस्टेट अपार्टमेंट उद्योग बड़ी तेजी से फ़ैल रहा है।[111]

आज़ादी के बाद औद्योगीकरण के दौर से बांधों के निर्माण का जो सिलसिला प्रारम्भ हुआवह आगे चलकर और भयावह सिद्ध हुआ। बांधों के निर्माण के साथ-साथ विस्थापन की प्रक्रिया भी तीव्र होती गयी। 30 सितम्बर से 2 अक्टूबर, 2013 तक झारखंड के जमशेदपुर के पास बांध विस्थापितों ने अपनी मांगों के समाधान के लिए जल सत्याग्रह किया। इस बांध के कारण लगभग बारह गांव उजड़ गये थे।

देश में कोयले से दो-तिहाई बिजली का उत्पादन होता है। इस कोयले को निकालने के लिए किये जाने वाले खनन ने देश की कुल आदिवासी आबादी का एक चौथाई हिस्सा विस्थापन की कगार पर खड़ा है। ये आदिवासी छत्तीसगढ़, झारखंड और उड़ीसा की कोल माइंस एरिया में निवास करते हैं। भूमंडलीकरण की बढ़ती चुनौतियों के मद्देनजर विश्व के सभी देशों के समक्ष कुछ ऐसे प्रश्न उत्पन्न हो चुके हैं जिनका समाधान निकाल पाने में सभी राष्ट्र अभी तक असफल ही साबित हुए है। समेकित रूप से इन चुनौतियों के बारे में सजग दृष्टिकोण अपनाने की जरूरत है ताकि समय रहते हल सुनिश्चित किया जा सके। यदि देखा जाए तो भूमंडलीकरण ने शासन-प्रशासन से लेकर व्यवसाय-समाज और संस्कृति तक सभी को अपनी गिरफ्त में ले लिया है जिससे मुक्त होने की छटपटाहट भी जारी हो चुकी है। भूमंडलीकरण को सहारा मिला उदारीकरण और निजीकरण के सिद्धांतों से जिनका उदय ही इस आधार पर हुआ था कि वैश्विक अर्थव्यवस्थाओं को एकीकृत कर उनके संसाधनों का दोहन सही ढंग से किया जा सकता है। इन सिद्धांतों को समग्र रूप से देखने की जरूरत है ताकि इनके छिपे हुए निहितार्थों को समझा जा सके। वास्तविक रूप से यह तीनों व्यवस्थाएं परस्पर आश्रित हैं। यदि पूरी धरती को वैश्वीकृत होना

[111]मनोज सिन्हा (संपा.), *समकालीन भारत एक परिचय*, पृ. 156.

है तो सारी दुनिया के देशों को उदारीकरण और निजीकरण के रास्ते पर चलना एक विवशता बन जाती है।

पिछले लंबे समय से भारत में जलवायु परिवर्तन और आपदाओं के कारण विस्थापन और प्रव्रजन की समस्या बढ़ी है। वर्तमान समय में भारत, विश्व में बाढ़ प्रभावित देशों में पांचवे स्थान पर है। जहां समय-समय पर प्राकृतिक आपदाओं ने तबाही मचाई है। हाल ही के वर्षों में आये आंकड़े बताते हैं कि भारत में विस्थापन दूसरे स्थान पर रहा, जिससे बड़ी संख्या में लोग प्रभावित हुए। सन् 2019 में भारत में सर्वाधिक आंतरिक विस्थापन हुआ। लगातार बढ़ती इन आपदाओं ने जीविका को खतरे में डाल दिया है। उदाहरण के लिए बंगाल की खाड़ी में आया चक्रवात तूफ़ान अम्फ़ान, फनी तूफ़ान, उत्तराखंड के जंगलों में आग, टिड्डी हमला आदि। दो दशकों में भारत में आए सबसे भीषण चक्रवात 'ताउते' ने भी भारत में कम तबाही नहीं मचाई। लोगों की जान बचाने के लिए सिर्फ गुजरात में दो लाख लोगों को उनके घरों से निकालकर सुरक्षित जगहों पर पहुँचाना पड़ा। इस तूफ़ान के कारण भारी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी।

1918 में आए स्पेनिश फ्लू के उदाहरण से भी हमने सीख नहीं ली, जिसमें लाखों लोगों को अपनी जान गवानी पड़ी थी। इतिहास ऐसी असंख्य घटनाओं से भरा पड़ा है जिसने समय समय पर लोगो को चेताने का काम किया। परन्तु मनुष्य ने अपनी प्राथमिकताओं को नहीं बदला। भौतिक विकास की एकांगी दौड़ में आगे बढ़ता गया। आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण, आर्थिक विकास और शहरीकरण आदि ने मनुष्य को ही नहीं अपितु पृथ्वी का भी किया है। भारत जैसे विकासशील देश में जलवायु परिवर्तन से सबसे ज्यादा गरीब वर्ग प्रभावित हुआ है।

वैश्विक महामारी कोरोना के कारण पैदा हुई स्थितियों ने भूमंडलीकरण की नीतियों पर प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया है। ऐसे समय में जब वैकल्पिक स्रोतों की कमी न हो, वहां स्त्रोतों का समाप्त हो जाना एक संकट की ओर इशारा करता है। भूमंडलीकरण की नीतियों को अपनाते हुए

भारत दवाइयों के लिए अधिकांशत: चीन पर निर्भर है। वर्तमान समय में जब महामारी के कारण आवाजाही बाधित हुई तो आपूर्ति का कोई विकल्प शेष न रह गया। इस वैश्विक अर्थव्यवस्था में जिन देशों ने कुछ उद्योगों पर एकीकरण का अधिकार प्राप्त कर लिया है, उस सूत्र को तोड़े जाने की आवश्यकता है। ताकि आपदा के समय आवश्यक वस्तुओं की आवाजाही निर्बाध गति से चलती रहे। इसके लिए आवश्यक है कि जरुरी चीजो की आपूर्ति पर किसी एक देश का एकाधिकार न रहे।

4.3 विस्थापन से संबंधित रिपोर्ट और आंकड़े

एनएसएसओ (2007-2008) के आंकड़े बताते हैं,

आंतरिक विस्थापितों में अस्सी फीसदी महिलाएं शामिल हैं। इसकी बड़ी वजह विवाह के बाद बाहर निवास करना भी माना गया है। इन्हीं आकंड़ों के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों में 91.3 फीसदी महिलाएं और शहरी क्षेत्रों में तकरीबन 60.8 फीसदी महिलाएं विवाह के बाद दूसरी जगह रहने के लिए चली जाती हैं।[112]

वर्किंग ग्रुप ऑन ह्यूमन राइट्स इन इंडिया एंड यूएन की 2012 की रिपोर्ट के मुताबिक, "आजादी के बाद विकास परियोजनाओं के कारण देश में छ: से साढ़े छ: करोड़ लोगों को विस्थापन झेलने के लिए मजबूर होना पड़ा। साथ ही साथ रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि विकास परियोजनाओं के चलते दुनिया में सर्वाधिक विस्थापित लोग भारत में हैं।[113]

[112]जे.पी. सिंह, *समाजशास्त्र,अवधारणाएं और सिद्धांत*, पृ. 608.

[113]हाउसिंग एंड लैंड राइट्स नेटवर्क (HLRN) https://m.jagran.com

अप्रैल 2019 की रिपोर्ट के अनुसार राज्य तथा केंद्र प्राधिकारियों ने मिलकर भारत के शहरी तथा ग्रामीण भागों से न्यूनतम दो लाख लोगों को बलपूर्वक विस्थापित किया है। इस रिपोर्ट में यह भी जानकारी दी गयी है, कि "पूरे देश भर में लगभग11.3 मिलियन लोगों के बलपूर्वक विस्थापन की आशंका है। 2018 की HLRN की रिपोर्ट के अनुसार कम से कम 41,730 घरों को तोड़ दिया गया है और हर घंटे 23 लोग विस्थापित हुए हैं।"[114] इस रिपोर्ट ने एक तथ्य और पेश किया है कि निम्न आय वाले समूहों का बलपूर्वक विस्थापन और उनके घरों को तोड़ गिराने की प्रक्रिया शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में हुई है। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि ज्यादातर विस्थापन सख्त गर्मियों या सर्दियों में किया गया है। चेन्नई में सत्तर प्रतिशत विस्थापन के मामले बच्चों की छ: माही परीक्षाओं के ठीक पहले हुए हैं। मुंबई के तानसा पाइपलाइन से विस्थापित परिवारों की भी शिक्षा के अधिकार का हनन हुआ है क्योंकि उन्हें शैक्षिक साल के ठीक बीच में विस्थापित किया गया है।

2019 में सीरिया, दक्षिण सूडान, डेमोक्रेटिक रिपब्लिक कांगो और इथियोपिया जैसे देशों में लगभग 8.5 मिलियन लोगों को अपने स्थानों से भागना पड़ा था। जलवायु संबंधी आपदाएँ - जैसे ऑस्ट्रेलियाई जंगलों की आग - दुनिया भर में विस्थापन के कारण थे, जिसके कारण पिछले वर्ष लगभग 25 मिलियन लोग अपने घरों से भाग गए थे अन्य जगहों पर, भारत और बांग्लादेश में चक्रवात फनी, मोजाम्बिक में साइक्लोन इडाई और केनेथ और कैरेबियन में तूफान डोरियन द्वारा 4 मिलियन से अधिक लोगों को अपना घर छोड़ने करने के लिए मजबूर किया गया था।

- रिपोर्ट के अनुसार, वर्ष 2019 में तकरीबन 50 देशों में उत्पन्न नए संघर्षों के कारण लोग विस्थापित हुए हैं।

[114]HLRNwww.hlrn.org.in, प्रेस रिलीज, 9 अप्रैल2019.

- सीरिया, यमन और लीबिया में लंबे समय से चल रहे संघर्षों के कारण मध्य-पूर्व और उत्तरी अफ्रीका में लोगों के विस्थापन में वृद्धि हुई है।
- रिपोर्ट के अनुसार, संघर्ष के कारण कम और मध्यम आय वाले देशों के अधिकांश हिस्सों में लोगों का विस्थापन हुआ है, जिसमें सीरिया, लोकतांत्रिक गणराज्य कांगो तथा इथियोपिया शामिल हैं।

वर्ष 2019 में 'संघर्ष और हिंसा' के कारण विस्थापित कुल 45.7 मिलियन लोगों में से तीन-चौथाई (34.5 मिलियन) विस्थापित लोग केवल 10 देशों से संबंधित हैं। साल 2019 के अंत तक सात करोड़ 95 लाख लोग विस्थापित हो चुके थे जिनमें करीब तीन करोड़ शरणार्थी शामिल थे और यह विश्व आबादी का लगभग एक फीसदी है। संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी एजेंसी (यूएनएचसीआर) के मुताबिक प्रारंभिक आंकड़ों से पता चलता है कि 2020 में और अधिक लोगों को पलायन करने के लिए मजबूर किया गया है, जिसके बाद विस्थापित होने वाले लोगों की संख्या आठ करोड़ को पार कर जाती है। यूएनएचसीआर का कहना है कि 2020 की पहली छमाही के प्रारंभिक आंकड़ों से पता चला है कि सीरिया, डेमोक्रेटिक रिपब्लिक ऑफ कांगो, मोजाम्बिक, सोमालिया और यमन में युद्ध और हिंसा के कारण ताजा विस्थापन हुआ है। यूएन की एजेंसी का कहना है कि संघर्ष को शांत करने के बजाय कोरोना वायरस संकट ने, 'मानव जीवन के हर पहलू को बाधित किया है, जबरन विस्थापित और बिना देश वाले लोगों के लिए मौजूदा चुनौती और गंभीर हो गई है।

भारत में 2020 में जलवायु संबंधी आपदाओं और संघर्षों की वजह से 39 लाख लोग विस्थापित हुए और यह इतनी बड़ी संख्या में पलायन के लिहाज से दुनिया का चौथा सबसे बुरी तरह प्रभावित देश बन गया।' सेंटर फॉर साइंस एंड एनवॉयरमेंट द्वारा जारी 'भारत के पर्यावरण की

स्थिति की रिपोर्ट 2021' के अनुसार चीन, फिलीपीन और बांग्लादेश में पिछले साल सर्वाधिक पलायन हुआ जहां प्रत्येक देश में 40 लाख से अधिक लोग विस्थापित हुए।

वर्ल्ड माइग्रेशन रिपोर्ट - 2020 भी यही बताती है, "दक्षिण एशिया में रहने वाले लोगों को धीमे और तेज़ी से हो रहे मौसमी बदलाव के प्रभावों और प्राकृतिक आपदाओं के साथ-साथ जलवायु परिवर्तन से विशेष खतरा है।"[115] रिपोर्ट के मुताबिक साल 2018 में दक्षिण एशिया में मौसम के तीव्र बदलावों के कारण 33 लाख लोग विस्थापित हुये। इसका सबसे अधिक प्रभाव भारत, बांग्लादेश, अफगानिस्तान और श्रीलंका पर पड़ा। इनमें से भी भारत में 2018 में कुल 27 लाख लोग बाढ़ और चक्रवाती तूफान की वजह से विस्थापित हुये।

रिपोर्ट के अनुसार 2020 में दुनियाभर में आंतरिक विस्थापन के 76 प्रतिशत मामले जलवायु संबंधी विपदाओं की वजह से सामने आए। इसके मुताबिक दुनिया में पिछले साल 4.05 करोड़ लोग विस्थापित हुए जिनमें से 3.07 करोड़ लोग जलवायु संबंधी आपदाओं की वजह से तथा 98 लाख लोग हिंसा और संघर्षों के कारण विस्थापित हुए। विस्थापन की सर्वाधिक घटनाएं जम्मू कश्मीर में हिमस्खलन और भूस्खलन, तमिलनाडु में बाढ़, उत्तराखंड में बादल फटने, पुडुचेरी में चक्रवाती तूफान निवार और केरल एवं तमिलनाडु में तूफान बुरेवी जैसी बड़ी जलवायु संबंधी आपदाओं के कारण घटीं। भारत में प्राकृतिक आपदाओं की वजह से 2018 में 27 लाख लोग विस्थापित हुए और 2019 में केवल चक्रवाती तूफान और बाढ़ की वजह से दो हजार से ज्यादा लोग मारे गये। दुनिया में विस्थापन की समस्या के पीछे अब हिंसा और युद्ध नहीं बल्कि प्राकृतिक आपदाएं बड़ा कारण हैं। संयुक्त राष्ट्र की ताज़ा वर्ल्ड माइग्रेशन रिपोर्ट- 2020 यह भी बताती है कि साल 2018 में जितने लोगों को हिंसा, आतंकवाद और युद्ध के कारण घर छोड़ना पड़ा उससे 64 लाख अधिक लोग आपदाओं के कारण विस्थापित हुये। रिपोर्ट के ये आंकड़े

[115] https://satyagrah.scroll.in/article/134357/visthapan-prayavaran-jalvaayu-parivartan-prakritik-aapdaayen

चिंताजनक हैं क्योंकि वैज्ञानिक चेतावनी देते रहे हैं कि ग्लोबल वॉर्मिंग के कारण आने वाले दिनों में आपदाओं की संख्या में तेज़ी से बढ़ोतरी होगी।

इस प्रकार जब-जब विकास की परिभाषा गढ़ी जाती है तब-तब यह कहा जाता है कि विकास के लिए विस्थापन जरुरी है। आज विकास के नाम पर लोगों को उनकी आजीविका से वंचित किया जा रहा है। इसका प्रमुख कारण विकास को निर्धारित करने वाली विचारधारा है जिसमें विकास के स्थान पर आर्थिक विकास को ज्यादा महत्व दिया जा रहा है। यही कारण है कि 'विस्थापन' के अध्ययन में विकास के प्रतिमान केंद्र में आ गए हैं।

4.4 हिंदी उपन्यास और विस्थापन

आज हमारे साहित्य में मुक्ति, संघर्ष, अस्मिता के साथ-साथ विस्थापन की समस्या को भी स्थान दिया जा रहा है। चूंकि साहित्य समय और समाज के साथ चलते हुए उन्नत भविष्य के सृजन का दूसरा नाम है। अत: जीवन और जगत की कोई भी समस्या, विडम्बना साहित्य की परिधि से बाहर नहीं है। साहित्यिक विधाओं में उपन्यास विधा समस्याओं को बड़े फलक पर चित्रित करने में सक्षम है। क्योंकि उपन्यास में केवल किसी व्यक्ति के अपने परिवार अथवा समाज से निर्वासित होकर जीने की अनुभूतियों का ही चित्रण नहीं है बल्कि भौगोलिक परिस्थितियों की भिन्नता के कारण जो समस्याएं जन्म ले रहीं हैं उनका विस्तार से वर्णन भी है। जिसमें व्यक्ति को अपने मूल स्थान से विस्थापित होकर विभिन्न कारणों से नये-नये स्थानों पर रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। अपरिचित लोगों के साथ अपना संबंध स्थापित करता है। अनजानी वस्तुओं के साथ जीता है, अपनी नयी पहचान बनाता है, नयी भाषाएँ सीखता है और स्वयं को एक अलग संस्कृति में ढालने की कोशिश करता है।

समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन के अनछुए प्रसंगों, संघर्षों को नए ढंग से देखने की कोशिश की गयी है। हिंदी में उपन्यासों की एक लम्बी प्रक्रिया रही है। वह अपनी नई भूमिका हमेशा निर्मित करता रहा है। चाहे वह प्रेमचंद का समय हो या उसके बाद का। बहुत कुछ बदलने के बावजूद उपन्यास विधा विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण बनी हुई है। जिसका कारण उपन्यास का 'कथानक' है जो समग्रता के साथ पाठक को अंत तक जोड़े रखता है। प्रकृति, राजनीति, धर्म, समाज तथा दर्शन से जुड़े ऐसे कई उपन्यास होंगे जिनकी अपनी एक विशेष पहचान है। जिसमें कोई अंचल विशेष की मिट्टी में रचा-बसा है तो कोई राजनीति की राजनीति को तोड़ता हुआ, कोई स्त्री चिंतन को दर्शाता हुआ, तो कोई भारत की किसी समस्या को दर्शाता हुआ दिखाई देता है। इन सबका अपना एक विशेष दायरा रहा है जो इन्हें सर्व समावेशी समाज के जीवंत दस्तावेजों के रूप में स्थापित करता है। कथा साहित्य का अपने समाज और समय से तो सदैव जीवंत संबंध रहा ही है उसका वर्तमान और यथार्थ से भी गहरा संबंध रहा है।

वर्तमान समय में लिखे जा रहे उपन्यासों ने उपर्युक्त समस्याओं को अपने अंदर समेटा है। जिसमें प्रमुख उपन्यास- रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' और 'गायब होता देश', अखिलेश का 'निर्वासन', संजीव का 'फ़ांस' और 'जंगल जहां शुरू होता है', मनीषा कुलश्रेष्ठ का 'शिगाफ़', सुषम बेदी का 'मोर्चे', अलका सरावगी का 'जानकीदास तेजपाल मैनसन', महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' और वीरेंद्र जैन का 'डूब' और 'पार' आदि हैं। इन सभी उपन्यासों में विस्थापन की समस्या को बेबाकी के साथ उठाया गया है। आज के समय में विस्थापन जैसी समस्याओं पर बात सिर्फ़ उपन्यास में ही नहीं बल्कि कहानी, कविता और यात्रासाहित्य में भी हो रही है। 'यादों का लाल गलियारा दंतेवाडा' और 'दर्रा-दर्रा हिमालय' में इस समस्या को देखा जा सकता हैं फिर भी उपन्यास ने इसे विस्तृत फलक पर प्रस्तुत किया है।

रणेंद्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' तथाकथित आधुनिक समाज के विकास संबंधी मॉडलको नकारता हुआ एक विचारोत्तेजक आख्यान प्रस्तुत करता है। एक ओर भिन्न-भिन्न सभ्यता, संस्कृति और भाषाई विविधता को कमजोर कर वैश्विक गाँव के निर्माण का खेल रचा जा रहा है तो दूसरी ओर उसकी आड़ में आदिवासियों को उनके भूगोल से वंचित किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में भूमंडलीकरण के दौर ने अनेक मुद्दों को जन्म दिया है जिससे वैश्विक ग्राम की परिकल्पना को पूर्ण किया जा सके। रणेंद्र ने अपने उपन्यास में 'असुर जनजाति' की 'संघर्ष-गाथा' के माध्यम से दुनिया के अनेक भागों में फैले हुए आदिवासियों के संघर्ष की पड़ताल की है। असुरों को तथाकथित देवताओं ने प्रताड़ित किया। उन्हें लगातार अपनी जमीन से विस्थापित किया जिसकी पीड़ा आज भी उन्हें झेलनी पड़ रही हैं। रणेंद्र अपने उपन्यास में वैश्विक ग्राम से उपजे विस्थापन की त्रासदी को दिखाते हुए लिखते हैं,

> यह केवल एक लालचन दा के चाचा की हत्या का सवाल नहीं था और न किसी असुर पर पहली बार या आखिरी बार आक्रमण हुआ था। न यह पहली बार जमीन के टुकड़ों के लिए हत्या हुई थी। ये हजारों-हजार साल से चल रहे घोषित-अघोषित युद्ध की नवीनतम कड़ी मात्र था। कटे सर ने हमारी काल और देश की समझ को गड़बड़ा दिया था। समझ में ही नहीं आ रहा था कि वैदिक काल में हैं या इक्कीसवीं सदी में।[116]

जबकि 'गायब होता देश' में रणेंद्र ने 'मुंडा जाति' नामक आदिवासी जातियों के जीवन संघर्ष और जीवन दर्शन को केंद्र में रखते हुए बहुत जतन से हमारे युग की भूमंडलीय लूट को दिखाया है। यह उपन्यास समय के साथ-साथ देश-देशांतर के अनेक संस्तरो में विचरण करता है।

अखिलेश के उपन्यास 'निर्वासन' के केंद्र में विस्थापन की समस्या है, पर यह महज भौगोलिक स्तर पर नहीं है, यह बहुस्तरीय और बहुआयामी है। निर्वासन की मन:स्थिति व्यक्ति की संवेदनाओं को गहराई तक विचलित करती है। अखिलेश उसी विडम्बना की ओर इशारा करते हैं

---

[116]रणेन्द्र, *ग्लोबल गाँव के देवता*, पृ. 32.

जो एक विस्थापित के जीवन में घटित होती हैं। भले ही वह कितनी सम्पन्नता और सुख-सुविधाओं से भरे बाहरी संसार में जीने लगे। 'निर्वासन' में अखिलेश मानव-मन की भावनाओं को सहज रूप से स्पर्श करते हुए अपने पात्रों का हर समय मनोविश्लेषण करते दिखते हैं। उपन्यास में प्रसंगवत अपने चाचा से सूर्यकांत पूछता है, "चाचा तुम कहाँ-कहाँ से तमाम ऐसी चीजें इस घर में रखे हुए हो जो गायब हो चुकी हैं। जवाब में चाचा कहते हैं,

> वे गायब नहीं हुई हैं बल्कि वे अपनी जगह से धकेल दी गई हैं। मैं समझ रहा हूँ तुम्हारी बात। ये देसी आम, ये बर्तन, ढिबरी, लालटेन, ये सिकहर, ये सिल लोढ़ा, ये सब इसी भारत देश में हैं पर अपनी-अपनी जगह से धक्का दे दी गयी हैं। ये ऐसे अँधेरे में गिर गए हैं कि तुम लोगों को दिखाई नहीं देते, पर ये हैं।[117]

भूमंडलीकरण के दौर में कैसे विकास के लिए गांवों को उजाड़ा जा रहा था इसका उल्लेख भी उपन्यास में किया गया है। प्रारम्भ में लुभावनी स्वप्निल दुनिया दिखाकर लोगों को भरमाया गया फिर बड़े ही शांत भाव के साथ विस्थापन की गति बढ़ती चली गयी। सूर्यकांत जब वापस अपने घर की ओर जाता है तो वरुणा एक्सप्रेस में सफ़र करते हुए वह सोचता है, "उन दिनों देश इक्कीसवीं सदी की ओर ले जाया जा रहा था और संसार भूमंडलीकरण की तरफ़ दुनिया एक गाँव बनने के लिए फ़ुदक रही थी। इसी घनचक्कर में हमारे बड़े-बड़े शहरों को रेलों के मार्फ़त परस्पर सुबह-शाम के लिए जोड़ा जा रहा था।"[118] लेखक ने विस्थापन की क्रिया के पहले बनने वाली पृष्ठभूमि को बखूबी दिखाया है।

भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ़ की दावत' भी कुछ ऐसी ही टूटन और पुरानी व्यवस्था से हुए मोहभंग की और संकेत करती है। उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' भी कुछ-कुछ ऐसी ही है। हिंदी उपन्यासों में प्रवास और विस्थापन जैसी जिन समस्याओं पर विचार किया जा रहा है

[117]अखिलेश, *निर्वासन*, पृ. 215.
[118]अखिलेश, *निर्वासन*, पृ. 100.

उसने हिंदी में मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक द्वंद्व को जन्म दिया है। 'शिगाफ़' उपन्यास मनीषा कुलश्रेष्ठ का एक ऐसा उपन्यास है जिसमें कई समस्याएं मिलकर एक हो गई हैं। कश्मीर की धरती से जुड़ा हुआ यह उपन्यास एक अलग ही भूमिका तैयार करता है।

> सैकड़ों ग़ैर-मुस्लिम कुत्तों की तरह घेर लिए गए और शूट कर दिए गए। कश्मीर के अलगाववादी संगठनों ने पुलिस और सेना के छक्के छुड़ा दिए हैं। सोई पड़ी बस्ती में आग लग जाने पर जैसी भगदड़ मचती है, वैसा ही कुछ मंजर देखा था। मैंने जिधर सुनों उधर...जिधर देखो उधर हजारों की तादाद में हिंदू शहर, गाँव-कस्बे छोड़ रहे थे।बेशुमार मुसीबतें गले में बांधकर, अनजाने-अनदेखे प्रदेशों की तरफ़ बढ़ रहे थे।दरंदगी की आग तमाम आसपास की चीजों को लील रही थीं।[119]

भय और उन्माद की परिस्थितियां किस प्रकार प्रव्रजन की समस्या को जन्म देती हैं लेखिका उसका जिक्र भी उपन्यास में करती हैं। "अब्बू, मुझे चिढ़ है, इस दहशतगर्दी से...मेरा दम घुटता है। मुझे दिल्ली में, हॉस्टल में भेज दो। मेरे बहुत से दोस्त चले गये हैं, वहां वजीफ़े पर पढ़ने।"[120] इसके कथानक में कई घटनाओं को उतारा गया है। विस्थापन,धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं व दर्द का खुलासा है 'शिगाफ़'। यह उपन्यास आवाम की आव़ाज के साथ-साथ बेबसी की दरार है जिसमें कश्मीर के दर्द का हर हालें बयां है।

अलका सरावगी का उपन्यास 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' कई केन्द्रीय कथाओं और उपकथाओं को लेकर चलता है। 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' में हमें आजादी के बाद नयी पीढ़ी के बदलते बनते मनोलोक का साक्षात्कार होता है जहां वे पुरानी पीढ़ी के मूल्यों व संस्कारों को सहज में ही वहन करते हुए देश में नित नयी दस्तकों को सुनते समझते हुए दो समानांतर दुनिया से गुजरते हुए दुविधा, द्वंद्व और विचलित मनोभूमियों की विडंबनाओं को ढोने के लिए अभिशप्तहैं। आजाद देश में सिस्टम की विसंगतियों से जूझता नायक तमाम विघटित हालातों से

---

[119]मनीषा कुलश्रेष्ठ, *शिगाफ़*, पृ. 96.

[120]उप. पृ. 99.

रोज रूबरू होता है और राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक मोर्चों पर एक नए अवसरवादी यथार्थ से जूझते हुए भौतिक व मानसिक विस्थापन के त्रिकोण को बखूबी उभारता है। यह उपन्यास एक साथ कई अर्थ ध्वनियों को प्रतिध्वानित करने में सक्षम है। कभी सरकारी नीतियों की जकड़बंदिया उसे त्रस्त करती हैं तो कभी सामाजिक स्तरों पर उसे एक साथ कई जगहों पर हीन या न्यून करके आने जाने की रुग्ण मानसिकता उसे रोज रोज तोड़ती है फिर भी जयदीप बनाम जय गोविंद के रूप में कथा प्रविधि के सहारे आगे बढ़ती है और एक नये तरह के जटिल मनोलोक को खोलती है।

उपन्यास में 'अमेरिका' और उसकी संस्कृति को केंद्र में रखा गया है। लगभग हर पन्ने में , हर शब्दके पीछे अमेरिका रिटर्न इंजीनियर की धमक व गमक छिपी रहती है।

> दुनिया बेमेल आदमियों और औरतों से भरी पड़ी हैं। कुछ लोग नियति मानकर उस बेमेलपन को झेलते रहते हैं...अमेरिका का वायरस उसके अंदर हमेशा के लिए घुस बैठता, तो शायद वह ऐसा न सोचता। वहां लोग अकेले रहकर ही खुश रह पाते हैं। इस देश में न कोई अकेला रहना चाहता है, न किसी को अकेले रहने देना चाहता है। और खुदा न खास्ता, कोई अकेले हो जाए, तो वह बेचारा है या आफत।[121]

जहां कुछ साल बिताकर भारत लौटा नायक अप्रवासी भारतीयों की तरह दुविधाग्रस्त, हालातों से जूझता दिखाई पड़ता है। राजनीति , प्रशासन , पुलिस व पूंजीवाद के दुश्चक्र में फंसे फड़फड़ाते आमजन की विवशता को बड़ी निष्ठा से अपने बारे में सोचते हुए नायक कभी जयगोविंद के रूप में तो कभी जयदीप के रूप में कथा के ताने बाने को बुनता है।

उपन्यास में नायक के मानसिक विस्थापन की जटिल परतों को खोलने की कोशिश की गयी है।

> बीफ खानेवाली ये गोरी लड़कियां क्या कभी किसी की हो सकती हैं- उसने नफ़रत से सोचा था। आज वह अपने को पढ़ने-पढ़ाने के काम में पूरी तरह झोंक देगा। वह बिल्कुल अकेला नहीं है। उसके पास

[121]अलका सरावगी, *जानकीदास तेजपाल मैनशन*, पृ. 52.

अपने देश की यादें हैं। उसके पास एडवोकेट बाबू हैं। क्या मां गाय का मांस खानेवाली या कभी एक बार भी खाई हुई किसी लड़की को अपनी बना सकती है?[122]

दरअसल सत्तर के दशक में विदेश जाकर वापस भारत लौटना अमूमन कम ही हो पाता था, आज भी तमाम जाने अनजाने कारणों से कम ही हो पाता है, ऐसे में जयदीप एक झटके में जब यहीं रह जाने का निर्णय ले लेता है और यहीं से उपन्यास का केंद्र भी शुरू होकर नयी करवट लेता है जिससे जयदीप के जटिल जीवन को देखा जा सके, जो सायास आकार प्रकार लेते हुए कथा में संघटित होकर रूपांतरित होता है। इस उपन्यास में लेखिका ने संयुक्त परिवार को प्रतीक के तौर पर चित्रित किया है। और यह दिखाया है कि किस तरह समाज के बदलने से यह मैनशन बिखर रहा है, टूट रहा है। विस्थापन और विघटन इस उपन्यास के मूल में है।

नक्सलवाड़ी आंदोलन से लेकर भूमंडलीकृत भारत के एक बड़े बाजार के रूप में बदलने से रीयल एस्टेट बनने के क्रूर यथार्थ को बारीकी से पकड़ते हुए लेखिका ने यहीं रह गये विवश व हताश नायक की मनोवेदना को पूरी गहराई से उभारा है। दूसरी तरफ उसके बेटे के माध्यम से युवतर पीढ़ी की एक झलक भी दिखायी है जो भारत को चिड़ियाघर कहने से भी नही हिचकिचाता। "नहीं, मैं कभी इस 'चिड़ियाघर' में वापस नहीं आ सकता। जयदीप देश को चिड़ियाघर कहे जाने पर तिलमिलाकर बोल उठा- और मैं कभी वहां नहीं रह सकता जहां अपना कमोड आदमी को खुद साफ़ करना होता है।"[123] जानकीदास तेजपाल मैनशन भवन एक सपने की तरह हिलता डुलता ढहने के लिए अभिशप्तक ऐसा जर्जर कर दिया गया भवन है जिसे प्रशासन, पुलिस व पूंजी के बीच दौड़ते बिचौलिए येन केन प्रकारेण पूरी तरह गिराने पर आमादा हैं। दिशाहीन नायक जगह जगह बेदखली से गुजरता फिर नए सिरे से सिस्टम को अपनी तरफ

[122]उप. पृ. 109.

[123]उप. पृ. 23.

मोड़ने की कोशिश करता रहता है और यही ऐसा केंद्र है जिसके इर्द गिर्द समूची कथा के ताने बानों को कई कई स्तरों पर गढ़ा गया है।

अलका सरावगी का यह उपन्यास शहरी विस्थापन का आख्यान तो है ही, इसमें सत्तर के दशक के बाद समाज में आ रहे बदलावों को भी बेहद सूक्षम्ता के साथ पकड़ते हुए लेखिका ने पूरी व्यवस्था को उद्घाटित किया है। "सोचा जाए तो कलकत्ते के आस-पास का औद्योगिक इलाका एक श्मशान घाट है जहां मुर्दे ही मुर्दे बिखरे पड़े हैं। पिछले दस सालों यानी सत्तर के दशक में हजारों छोटे-बड़े कारखाने बंद हुए हैं।"[124] शहरी मध्यवर्गीय परिवार के अंदर जारी द्वंद्व को भी लेखिका ने दिखाया है।

आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के लिए इतना गहरा संकट इससे पहले नहीं पैदा हुआ। जब सवाल अस्तित्व का हो तो प्रतिरोध स्वाभाविक ही है। सर्वहारा वर्ग का चित्रण करने वाले अनेक हिंदी उपन्यास अंतिम दशक की देन हैं। 'डूब' उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर भारत में अपनायी गयी विकास योजनाओं की विसंगतियों और उससे उत्पन्न विस्थापन की समस्या को केंद्र बनाकर लिखा गया है। इसमें लेखक ने मध्य प्रदेश के एक पिछड़े गाँव में बड़े बांधो द्वारा विकास के नाम पर किये जा रहे विनाश को कथा में पिरोया है। बड़े बांध केवल विकास के लिए उठाया गया एक वैज्ञानिक कदम नहीं है बल्कि एक सांस्कृतिक विरासत के ढह जाने का भी सूचक है।

उपन्यासकार ने बांध-निर्माण से उत्पन्न होने वाली समस्या 'डूब' क्षेत्र में डूब जाने वाली मनुष्यता, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, भूगोल, पेड़-पौधे और वहां रहने वाले आम-जन की त्रासदी के चित्र अंकित किये हैं। आज़ादी के बाद भारत में विकास के लिए पश्चिमी मॉडल को अपनाया गया था। जिन कल-कारखानों का निर्माण किया गया वे अधिकांशत: देश के हित में प्रतिकूल

---

[124]उप. पृ. 152.

साबित हुए। परिणामस्वरूप विकास की इस अंधी दौड़ में औपनिवेशिक साम्राज्यवादी मॉडल को अपना लिया गया। इन्हीं उद्योगों से बांधों की कड़ी भी प्रारम्भ हुई। इसी के कारण बहुत बड़ी संख्या में जमीन, जंगल, तालाब, नदियों आदि का अधिग्रहण होना शुरू हुआ। जिसका परिणाम यह हुआ कि बड़ी संख्या में जीविका के साधन से वंचित होकर लोगों को विस्थापन के लिए मजबूर किया गया।

वीरेन्द्र जैन 'पार' उपन्यास में तमाम विसंगतियों का चित्रण करते हुए अपनी मान्यता को भी स्थापित करते हैं। रचना विकास विरोधी नहीं है। लेकिन विकास के उस विनाशक रूप का विरोध जरूर करती है जिसमें एक वर्ग को लाभ और दूसरे को सिर्फ़ हानि पहुँचती है। इस उपन्यास में विस्थापन की समस्या को दिखाते हुए लेखक यह बताता है कि जहां विकास किया जा रहा है वहां अनेक प्रश्न भी होते हैं। लेकिन उन सवालों को न तो देश और न मीडिया सामने लाती और न ही सरकार। यह उपन्यास सिर्फ एक गाँव की नहीं अपितु पूरे देश की कथा कहता है। इसी समस्या के साथ लेखक ने मुआवजे की समस्या को भी उठाया है। साथ ही 'भोपाल गैस त्रासदी' और 'दिल्ली के सिक्ख दंगे' की ओर भी इशारा किया गया है। चूँकि लेखक ने माना है और प्रश्न खड़ा किया है कि जरूर इन घटनाओं से पीड़ित लोगों के लिए भी कुछ नहीं किया गया होगा। इसलिए लेखक उपन्यास में बार-बार शिक्षा, सड़क और संगठन की आवश्यकता को महसूस करता है।

> हम यहीं से तय करके चले थे कि जाकर जिला-शिक्षाधिकारी से मिलेंगे। उन्हें जो प्रार्थना हम कई बार अपनी रिपोर्ट में, चिट्ठियों में, अर्जियों में लिख चुके थे, उसे स्वयं कहेंगे और गुजारिश करेंगे कि वे ये तमाम चीज़े अपनी आँखों से देखने के बाद अपने से बड़े अधिकारियों तक यह सिफारिश अवश्य करें कि अब हमारे गाँव के मदरसा को मिडिल स्कूल में तब्दील कर दिया जाए।[125]

विकास का स्वरुप जनता के अनुकूल नहीं है। और विडम्बना यह है कि जनता इस भयावह रूप को समझने में असमर्थ है। विकास का यह स्वरुप उसकी मानसिक और सांकृतिक

[125]वीरेंद्र जैन, डूब, पृ. 106.

स्थितियों को छिन्न-भिन्न कर रहा है, साथ ही इन परिस्थितियों का समुचित विकल्प भी उनके पास उपलब्ध नहीं है।

> चाहिए तो सरकार को बहुत कुछ, मगर हमारी-तुम्हारी मुसीबत से सरकार को क्या सरोकार? हालांकि सुनने में तो आया है कि अब पूरी मुस्तैदी से होगा बाँध का काम। मध्यप्रदेश वाले क्षेत्र में भी जो गाँव डूब रहे हैं, उन्हें भी जल्दी ही खाली करवाया जाएगा।...यहाँ हमारी तरफ़ के गाँवों के लोगों को बसाने के लिए सरकार जगह तलाश रही है।...मगर आफत यह है कि सरकारों को जमीने मिल ही नहीं रही हैं।...सुना है बड़े-बड़े सेठ साहूकारों ने पहले ही तमाम खाली जमीने खरीद ली हैं। वे जानते जो हैं कि बाँध बन जाएगा तब उद्योग-धंधे भी लगेंगे। अब उद्योगपति या सरकार जिसे दरकार हो, वह खरीद ले जमीन।[126]

उपन्यासकार ने अपने दायित्व का निर्वहन करते हुए इस समस्या को उठाया है।

'डूब' उपन्यास में बिजली परियोजना का विरोध करता ग्रामीण समाज वैज्ञानिक विकास नहीं चाहता,

> उपन्यास जिसमें विस्थापन से डरा और शोषण के विभिन्न रूपों से आंतरिक ग्रामीण समाज बिजली परियोजना जैसे वैज्ञानिक विकास का विरोध करने को बाध्य हो जाता है। इसका कारण कहीं यही तो नहीं कि हमने एक दूसरे की संवेदना उनके मर्म उनकी बात आदि को सुनना, समझना और स्पर्श को महसूस करना भुला दिया है?[127]

'डूब' उपन्यास की कथावस्तु के माध्यम से गाँव की सम्पूर्ण संस्कृति उभर कर आती है। गाँव में प्रमुख तौर पर तीन वर्ग के लोग हैं, किसान वर्ग, सामंत वर्ग, ब्राह्मण एक दूसरे के पर्याय हैं। माते सबसे भिन्न मानवता का प्रतीक और गांधीवाद चरित्र है। गाँव में किसान बनिया ठाकुर लुहार बढ़ई कुम्हार आदि। सभी जाति वर्ग के लोग रहते है। सबके कार्य बंटे हुए हैं और लडैई अपने आप में एक आत्मनिर्भर गाँव हैं। प्रमुखत: यहाँ दो ही वर्ग हैं- शासक वर्ग और शोषित वर्ग।

---

[126]उप. पृ. 193.

[127]हंस पत्रिका, सं. राजेन्द्र यादव, सितम्बर: 1999

आदिवासी अस्मिता के संकट के कारण पूरे भारतीय समाज का परिदृश्य बदला है, बदलते परिदृश्य को हिंदी साहित्य ने भी बखूबी समझा और हिंदी लेखकों ने उसे विशेष स्थान भी दिया है। वीरेंद्र जैन ने 'डूब' उपन्यास में नई चेतना का आयाम रखा है। लेखक की प्रतिबद्धता साफ दिखाई देती है। उपन्यास में बुन्देलखंड के लडैई गाँव की व्यथा कथा है। गाँव के लोग शासन, सत्ता, सामंती पकड़ और जकड़न पूंजी वर्ग के शोषण के शिकार हो रहे हैं। गाँव की अनपढ़ और गरीब जनता का शोषण हो रहा है। विकास के नाम पर लोगों का विस्थापन और जीवन जीने का संघर्ष जंगल की कटाई, बेतवा नदी पर बांध बांधने की कथा है। 'डूब' उपन्यास प्रेमचंद के गोदान या रेणु का मैला आँचल का कहीं संशिल्ष्ट रूप उपस्थित करता हुआ दिखाई देता है। लडैई गाँव और उसके लोगों की त्रासद जिन्दगी की कथा कही जा सकती है। पहले सामंती और महाजनी सभ्यता के शोषण का शिकार, दूसरी ओर सरकारी प्रशासनिक अनीति तो तीसरी ओर विकास के नाम पर शोषण की कहानी है। माते की लगातार चिंता स्वाभाविक है वह सरकार की गतिविधियों से चिंतित है। उपन्यास में पात्रों के द्वन्द्व, संघर्ष, चिंता से उपन्यास क्रमिक रूप आगे बढ़ता है। 'डूब' के सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव जी ने कहा था; वीरेंद्र जैन का उपन्यास 'डूब' इस अर्थ में इतिहास और समाज के बदलावों को देखना नहीं है बल्कि एक सौ पांच साल के माते के माध्यम से इतिहास के साथ मुठभेड़ है। समय की नदी पर बना ऐसा बाँध है, जहां पानी रुक गया है और बाँध की दीवारों में दरारें बन गई हैं।

वीरेंद्र जैन का 'डूब' उत्तर आधुनिकतावादी विशेषताओं से युक्त उपन्यास है। इसमें पात्र माते के माध्यम से कथा कही गई है। विकास योजनाओं के नाम पर विनाश को अभिशप्त ग्रामीणों की व्यथा इसमें चित्रित है। माते का विकास विरोधी चरित्र है। वह विकास में विश्वास नहीं रखता।

“दांतन में जा सुपारी तो मोती साव की नाई मो से चैंट गई है।”[128] एक भूमिपुत्र विकास की अवधारणाओं पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। यह विकास जड़ों से काटने की साजिश में लगा है। पूंजीवादी व्यवस्था गांवों को लील जाने को उद्यत है। शहरीकरण, आधुनिक विकास को चुनौती देकर इस उपन्यास में मार्क्सवाद जैसे महाख्यान को नकार दिया गया है, “उत्तर आधुनिकतावाद घोषित तौर पर कहता है कि साहित्य में महाख्यान का युग समाप्त हो गया है और अब कोई न तो सर्वमान्य आलोचना सिद्धांत है, न हो सकता है।”[129] वीरेंद्र जैन के बुन्देलखंड पर केन्द्रित आंचलिक उपन्यास ‘डूब’ में बड़ी व्यापक दृष्टि से एक विस्तृत फलक पर गाँव के व्यक्तियों और घटनाओं का चित्रण है। उसके लडैई गाँव की सहज, मार्मिक और जीवंत कथा भीतर तक झकझोर गई है

‘डूब’ की मूल पीड़ा विस्थापन की पीड़ा होते हुए भी प्रकारांतर से गाँव की अवरुद्ध विकास गति, अंध विश्वास, शोषण, कष्टपूर्ण जीवन, शिक्षा का अभाव आदि का चित्रण पाठक वर्ग का ध्यान ग्रामीण संस्कृति की मूलभूत समस्या की ओर आकर्षित करता है।

> ‘डूब’ एक यथार्थवादी उपन्यास है। जिसमें लेखक ने भारतीय ग्रामों के शोषण तंत्र को बेनकाब किया है लेखक ने विस्थापन की पीड़ा और पर्यावरण के विनाश की चिंता को बारीक संवेदनाओं में गूंथकर कथा रूप में प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास प्रेमचंद और फणीश्वर नाथ रेणु के आंचलिक उपन्यासों की कड़ी का सार्थक विस्तार है।[130]

उपन्यास के अंत में माते जब देखता है कि बाँध बनने से गाँव उजड़ जाएगा, गाँव की संस्कृति नष्ट हो जाएगी तब कहता है, ‘‘लाबरी है जा सरकार महा लाबरी महा झूठी”। उस विकास से क्या फायदा जो मनुष्यों को उखाड दे बे-घरबार कर दे, उन्हें गलत जगह रोप दे उनकी

---

[128]वीरेंद्र जैन, *डूब*, पृ. 93.

[129]कृष्णदत्त पालीवाल, *उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य*, पृ. 23.

[130]मनोहर लाल, *वीरेंद्र जैन का साहित्य*, पृ. 24.

सहजात इच्छाओं को रौंद दे? डूब का अंत एक अधूरेपन के साथ होता है। जहां माते विचलित है, अनिश्चय की स्थिति में है, स्वयं को ठगा हुआ महसूस कर रहा है। सरकार को कोस रहा है। नदियों पर बनने वाले बांधो के विरोध में बीसवीं सदी में विरोध की घटनाओं में एक बेतवा नदी पर बने राजघाट बांध पर वीरेंद्र जैन ने डूब उपन्यास लिखकर इस दुःख गाथा को दुनिया भर में उजागर भले ही कर दिया हो लेकिन डूबने और डुबाने की साजिश जारी है।

नव उदारवादी आर्थिक नीतियाँ हमारी नीतियों की प्रतिशक्ति के रूप में उभर कर आयी। नव उदारवाद ने अपनी यात्रा में 1990 में भारत को भी कब्जे में ले लिया। बड़ी संगठित पूँजी और सरकारी शक्तियों का गठबंधन हुआ। इसने पहले से ही प्रभावहीन नीतियों के सामने एक और दीवार खड़ी कर दी। राष्ट्रीय आय को विकास मानने के कारण सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का सारतत्व जन सरोकारों और राष्ट्रीय जरूरतों, दोनों से पर्याप्त तथा सार्थक तरीकों से नहीं जुड़ पाया। राष्ट्रीय आय वृद्धि-प्रक्रिया के कर्ता-धर्ता शुरू से ही आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मामलों में अत्यधिक शक्तिशाली देसी-परदेसी तबके से थे। धनी देशों के साथ समकक्षता-सादृश्यता प्राप्ति के प्रयासों ने उनकी शक्ति और संसाधन नियंत्रण को और अधिक गहराई और विस्तार दिया। परिणामस्वरूप पूँजीवादी शक्तियाँ उभरकर सामने आने लगीं। 121करोड़ की आबादी वाले देश में 90 प्रतिशत जनता की मान्यताओं को अनदेखा कर मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हित में देश की हर तरह की आजादी को साम्राज्यवादी शक्तियों को सौंप देना एक सुनियोजित षड्यंत्र है।

आर्थिक उदारीकरण को लागू करने के बाद डेढ़ दशक के भीतर ही पूरे देश में वैश्वीकरण का दुष्प्रभाव दिखने लगा। समाज के निम्न तथा मध्य वर्ग इसकी चपेट में आ गए। बाज़ार से लेकर सत्ता तक में पूँजी का हस्तक्षेप होने लगा। बहुराष्ट्रीय कंपनियों को विदेशी पूँजी के निवेश के नाम पर देश की प्राकृतिक संपदाओं और संसाधनों के लूट की अनुमति स्वतः मिलने लगी। इसकी

प्रतिक्रिया में यहाँ के शोषितों, विस्थापितों में प्रतिरोध की संस्कृति जगी। जगह-जगह जंगल आंदोलन शुरू हुए। सभाएँ, धरना, प्रदर्शन, रैलियाँ आदि शुरू हुई। हिंदी उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में इनका चिंतनपरक चित्रण किया गया है। तमाम अत्याचारों को लंबे समय तक बर्दाश्त करने पर भी हल न निकले तो प्रतिरोध ही उसका एक मात्र रास्ता होता है हमारे देश के प्रबुद्ध चिंतकों का मत है कि जब भारत आगे बढ़ रहा है, विकास कर रहा है, तो राष्ट्र हित में कुछ लोगों का विस्थापन उतना मायने नहीं रखता।

झारखण्ड के मुंडा आदिवासियों को केंद्र में रख कर लिखा गया यह उपन्यास (गायब होता देश) सम्पूर्ण आदिवासी समाज के संकट की ओर ध्यान खींचता है। पूंजीवादी विकास की दौड़ में शामिल लोग किस प्रकार घास की तरह एक मानव समुदाय को निगलते जा रहे हैं 'गायब होता देश' इसी की मार्मिक कहानी है। उपन्यास में किशन विद्रोही ऐसे ही पात्र है। आदिवासी समाज के बुद्धिजीवी के रूप में सोमेश्वर पहान हैं, जो पूंजीवादी व्यस्था के विकल्प के रूप में आदिवासी समाज-व्यवस्था को मजबूत बनाना चाहते हैं। इस दिशा में लेखक की यह खोज बहुत महत्वपूर्ण है कि वह आदिवासी समाज में मौजूद विकल्प को पहचानते हैं और उसके लिए संघर्ष में सोमेश्वर पहान, नीरज, सोनामनी दी और अनुजा पहान के साथ हैं।

वर्तमान समाज जिस तरह से संपूर्ण धरती के लिए संकट बना हुआ है ऐसी परिस्तिथियों में एकमात्र आदिवासी समाज के पास ही वे सारे उपकरण मौजूद हैं जिससे इस धरती को बचाया जा सकता है। अन्यथा एक दिन इस धरती से नदी,जंगल,पहाड़ पेड़-पौधे सब एकबारगी विलुप्त हो जायेंगे। आदिवासी समाज की इन विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लेखक कभी भी मुग्ध नहीं होते बल्कि उसके अन्दर मौजूद अंतर्विरोधों को भी खोल कर सामने रखते हैं।आदिवासी समाज के भी अपने सामाजिक अन्तर्विरोध हैं। इन अंतर्विरोधों को उपन्यास की स्त्री-पात्र अनुजा पहान उद्घाटित करती है उससे संघर्ष करती है। लेकिन ऐसा करते वक्त लेखक कभी-कभी अपने बाहरी

समाज के प्रभाव में भी होते हैं जिससे कुछ चीजों का अनावश्यक अतिक्रमण होता हुआ भी प्रतीत होता है।

विस्थापन का एक पहलू मनुष्य को भावनाओं के स्तर पर लाकर तोड़ देता है जहां से वह 'आत्मनिर्वासन' का अनुभव करने लगता है।यह एक नए प्रकार का विस्थापन है। धीरेन्द्र अस्थाना का उपन्यास 'देश निकाला' बाजारीकरण और भूमंडलीकरण की भयावह स्थितियों को दिखाते हुए विस्थापन की इस श्रेणी को हमारे सामने उजागर करता है। जहां जीवन की विडम्बना और आत्मीय संघर्ष उसे आपसी रिश्तों से ही विस्थापित कर देते हैं। उपन्यास का नायक 'गौतम' व्यक्तिवादी जीवन जीना चाहता है जहां निजता, एकांत और स्वतंत्रता को वह अपने जीवन का केंद्र समझता है।

> यायावरी और एकांत मेरे प्रोफेशन का तकाज़ा है। तुम अपने स्वप्नों और जिदों के साथ चारकोप में रहो। मैं अपनी सनक और पैशन के साथ मीरा रोड में हूँ। यह बिल्कुल मत समझना कि हम अलग हो गये हैं। यथार्थ को स्वीकार करलो मल्लिका। हम दोनों अपने-अपने स्पेस में रहना चाहते हैं, अपनी-अपनी समझ के साथ। कोई प्रोब्लम हो तो मैं मोबाइल पर एवेलेबल हूं न।[131]

जीवन में आगे बढ़ने के लिए वह किसी का साथ जरूर चाहता है। एक प्रकार से वह संबंधों को स्वार्थ के बल पर भापने का दृष्टिकोण रखता है वहां जिम्मेदारियों और संवेदनाओं का कोई सरोकार नहीं है। वह मल्लिका के साथ सहजीवन व्यतीत करता है और कुछ समय बाद विलग होने के पश्चात् वह पुनः उसके साथ रहना चाहता है पर अपनी पूर्ण स्वतंत्रता के साथ। विडम्बना यह है कि वह मल्लिका को स्वतंत्रता नहीं देना चाहता। उपन्यास में स्त्री और पुरुष के मध्य एक देश निकाला जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। "गौतम इतना संयमित कैसे है? क्या वह संवेदनाओं के पार चले गये हैं या फ़िर उन्होंने खुद को पूरी तरह व्यवसाय का हिस्सा बना लिया है जहां कुछ भी उद्वेलित नहीं करता, सिवा अपने निजी नुकसान के।इतने ठंडे और उदासीन आदमी

[131]धीरेन्द्र अस्थाना, देश *निकाला*, पृ. 120.

के साथ कैसे निभेगा उसका जीवन।"[132] उपन्यास में एक उपकथा के आधार पर श्रेया गौतम की क्रूरता के कारण आत्महत्या कर लेती है जिसके साथ मल्लिका की पूरी संवेदनाएं होती हैं। मल्लिका, गौतम से प्रतिवाद करती है कि पैसा कमाना ही जीवन जीने का एकमात्र ध्येय नहीं है। "छोटे से जीवन से इतनी भारी आशा क्यों?"[133] इस प्रकार पूरे उपन्यास में रिश्तों को विस्थापित होते दिखाया गया है।

अत: आज के समय का सच यही है कि किसी भी समस्या या प्रश्न के बारे में कोई भी अंतिम रूप से कुछ कहने की स्थिति में नहीं है। उपन्यासों मे लगातार विस्थापन की समस्या को उजागर करते उसके सूक्ष्म पहलुओं पर विचार किया गया है। उपन्यासों मे विस्थापन कई स्तरों पर दिखाई देता है जिसका प्रभाव व्यक्ति के मानसिक पटल पर पड़ता है। अपनी भूमि, भाषा, रहन-सहन, संस्कृति, रिश्तों आदि से निर्वासित मनुष्य को लंबे समय तक विस्थापन की पीड़ा कचोटती है। देश में सर्वाधिक आंतरिक विस्थापन उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, तमिलनाडु आदि राज्यों में हुआ है। वहीं वैश्विक स्तर पर मलेशिया, सीरिया, लीबिया, सूडान, म्यांमार आदि देशों के लोग भिन्न-भिन्न कारणों से विस्थापन का दंश झेल रहे हैं।

[132]उप. पृ. 67.

[133]उप. पृ. 117.

पंचम अध्याय

प्रव्रजन और विस्थापन मूलक हिंदी उपन्यासों की अभिव्यंजना प्रणाली का अध्ययन

भारत में कथा साहित्य की परम्परा प्राचीन समय से रही है। भारतीय परम्परा में भगवान शिव को सबसे प्राचीन 'कथक' के रूप में माना जाता रहा है। आख्यान, पुराकथाएं, मिथकशास्त्र आदि असंख्य धाराएं इस परम्परा को प्रवाहित करती रही हैं। कदाचित मनुष्य के जन्म के साथ ही कथा का भी प्रादुर्भाव हुआ। मौखिक कथा में भाषिक उत्कर्ष के लिए महत्वपूर्ण स्थान नहीं था।कथा की भाषा अत्यंत सरल और बोलचाल के निकट हुआ करती थी। रोचकता और कौतुहल कथा के मूल स्रोत थे। जिसमें उपदेश और शिक्षा का बिंदु भी समाहित था। भारतीय परम्परा में सर्वप्रथम वेदों में कथा का उपयोग ज्ञान और चिंतन के लिए किया गया। आगे चलकर उपनिषदों में इस परम्परा का विकास हुआ। कथा में उपदेश के समावेश का एक उदाहरण मिलता है। विष्णुदत्त शर्मा द्वारा रचित 'पंचतंत्र' है, जिसकी रचना पहली शताब्दी ईस्वी के आसपास हुई। *पंचतंत्र* कथाओं का ही एक संकलन है जिसमें पशु-पक्षियों की कथाएं हैं। इन कथाओं की विशेषता यह है कि इसमें पशु-पक्षी मनुष्य की भांति ही आचरण करते हैं और उन्हीं की तरह भाषा का भी प्रयोग करते हैं। 'पंचतंत्र' की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता मानी जाती है उसकी 'गद्यात्मकता' जिसकी भाषा 'मूल भाषा' के निकट है। इसके उपरान्त गद्य के रूप में बाणभट्ट की 'आख्यायिका', कथा के रूप में 'हर्षचरित', 'कादम्बरी' आदि की रचना हुई। इस समय तक संस्कृत केवल दरबारों की भाषा थी। संस्कृत के पश्चात् फ़ारसी प्रचलन में आयी और साहित्य सृजन का माध्यम भी बनी। परन्तु संस्कृत और फ़ारसी दोनों भाषाओं की पहुँच आमजन तक नहीं

थी।ऐसे समय में भारत के सूफ़ी-संतों ने आमजन तक लोक भाषाओं में अपनी बात पहुंचाई। उत्तर भारत की बोलियां साहित्य सृजन का माध्यम बनीं।

हिंदी में उपन्यासों की रचना से पूर्व कथाओं, महाकाव्यों आदि का लम्बा इतिहास रहा है। हिंदी में जिस समय पंडित गौरीदत्त की 'देवरानी जेठानी की कहानी' लिखी गयी, उस समय तक यूरोप में 'नॉवेल' साहित्यिक विधा के रूप प्रतिष्ठित हो चुका था। "भारत में बंगला साहित्यकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की रचनाओं में उपन्यास एक नयी विधा के रूप में सामने आया।"[134] हिंदी में भी यही नाम प्रचलित हुआ। रचनाकारों ने भाषा और कथ्य को नवीन रूप देने का प्रयास किया।अलग-अलग पृष्ठभूमियों को लेकर उपन्यासों की रचना की गयी।धीरे-धीरे औपन्यासिक कृतियाँ सामाजिक जन-जीवन से जुड़ने लगीं।

औपन्यासिक संरचना को यथार्थवादी स्वरुप प्रदान करने में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ताकि वह आम जन-जीवन से जुड़कर उनके व्यवहार की भाषा बन सके। "हिंदी कथा साहित्य में 'देवरानी जेठानी की कहानी' पहली रचना है जिसमें अलंकृत और कृत्रिम भाषा का मोह त्याग कर दैनिक जीवन में व्यवहृत होनेवाली भाषा को महत्त्व मिला।"[135] इसके पश्चात जिन उपन्यासों की रचना की गयी उनकी भाषा धीरे-धीरे यथार्थवादी संरचना के अनुकूल बनती चली गयी। हालांकि इससे पूर्व हिंदी में जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों की एक श्रृंखला दिखाई देती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "इन उपन्यासों में का लक्ष्य घटना वैचित्र्य रहा; रससंचार, भावविभूति या चरित्रनिर्माण नहीं। ये वास्तव में घटनाप्रधान कथानक या किस्से हैं। जिनमें जीवन

[134]गोपाल राय, *उपन्यास की संरचना*, पृ. 31.

[135]उप. पृ. 33.

के विभिन्न पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य की कोटि में नहीं आते।"[136] उपन्यास की विषय-वस्तु की भांति ही उसकी सामाजिक व्यापकता भी महत्वपूर्ण है।

गद्य साहित्य के आभाव में जो भी महाकाव्य, प्रबंध काव्य, गीतिकाव्य लिखे गए, उनके माध्यम से सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति होती रही। परन्तु गद्य और पद्य में एक अंतर है। गद्य अपनी विशेषताओं के कारण कतिपय पद्य से अधिक व्यापक और विस्तृत बन सका है। यही कारण है कि काव्य के यह दोनों शैलीगत रूप भिन्न जान पड़ते हैं। उपन्यास महाकाव्यों की ही भांति युग-धर्म का चितेरा है परन्तु अपनी भिन्न बनावट के कारण उसमें मानव की आवश्कताओं, इच्छाओं और जीवन जगत को चित्रित करने में अधिक समर्थ रहा है।

उपन्यास की कथा नाटक के समान ही होती है क्योंकि इन दोनों साहित्य रूपों का संबंध मूलतः घटना से होता है। इन समानताओं के बावजूद दोनों की कथावस्तु में अंतर होता है। नाटक के चरित्रों द्वारा घटने वाली घटनाओं का तत्काल प्रभाव हम पर पड़ता है, क्योंकि हम स्वत: उन्हें देखते और सुनते हैं। जबकि उपन्यासों की स्थिति इससे भिन्न है। उपन्यास के दर्शक के स्थान पर पाठक होते हैं। उपन्यास में एक कथा होती है और घटनाओं का सविस्तार वर्णन होता है। स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य न केवल पारम्परिक दृष्टिकोण से बल्कि संरचना के दृष्टिकोण से भी भिन्न है। यही कारण है कि उपन्यास परम्परा की संरचना में हमें निरंतर एक भाषागत अंतर दिखाई देता है। स्वतंत्रा के पश्चात उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में मध्यवर्गीय समाज की संवेदना और समस्याओं को चित्रित करने के लिए एक अलग भाषिक संरचना की सर्जना की। जो शिल्प और शैली दोनों दृष्टियों से नवीन है।

भाषा में नवीनता का प्रयोग यथार्थ को गति प्रदान करने के लिए भी किया गया। स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य के विषय में राजेन्द्र यादव लिखते हैं, "अनुभूति और अभिव्यक्ति के

---

[136]आचार्य रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*. पृ. 273.

बीच भाषा निश्चय ही तीसरी जीवित स्वतंत्र सत्ता है। वह हमें औरों से मिली है, हमें औरों से जोड़ती है।"[137] प्रेमचंद ने अपने समय में भाषा और शिल्प से संबंधित जो नवीन प्रयोग किये वे आज भी निरंतर जारी हैं। गद्य की भाषा से उपन्यास की भाषा में कुछ भिन्नता अवश्य होती है। उपन्यास की भाषा सामान्य बोलचाल के अधिक निकट होती है। उपन्यास में कथात्मक रूप का विस्तार होता है। व्यापक परिवेश, चरित्रों की अधिकांशत:, विविध परिस्थितियां और घटनाएं उपन्यास में वर्णित होती हैं। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी भाषा में भी विविधता हो। उपन्यास में कथानक, पात्रों और परिवेश के अनुरूप भाषा का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है।

कथा के प्रवाह और भावनाओं के उतार-चढ़ाव के अनुरूप ही उपन्यास में नाटकीयता, गतिमयता, तनाव और संघर्ष की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण हो जाती है। उपन्यासों में भाषा का स्वरुप निरंतर बदलता रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण समाज में भाषा के प्रयोग का बदलता हुआ रूप है। मनुष्य के बाहरी और आंतरिक जीवन की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की सर्जनात्मक शक्ति का होना बहुत आवश्यक है। गद्य की भाषा में वर्णन और विश्लेषण की क्षमता होती है और उपन्यास की भाषा में इन क्षमताओं का प्रयोग अपना अलग महत्त्व रखता है। उपन्यास में 'वर्णन', 'विश्लेषण' और 'विवरण' तीनों महत्वपूर्ण विशेषताएं मानी जाती हैं। उपन्यास की भाषा में वर्णित यह विशेषताएं ही लेखक को अपने विचार और भाव को पाठकों तक संप्रेषित करने में सहायक होती हैं।

साहित्य की प्रत्येक विधा के बाह्य स्वरुप की अभिव्यक्ति का माध्यम 'भाषा शैली' होती है। लेखक के विचारों और भावों को मूर्त रूप देने का कार्य करती है। उपन्यास को अर्थवत्ता प्रदान करने का कार्य भाषा का ही है। भाषा शब्दों का ऐसा समूह है जो एक विशेष क्रम में व्यवस्थित होकर पात्रों की भावनाओं और घटनाओं को अभिव्यक्त करता है। भाषा मनोभावों की

---

[137]राजेंद्र यादव, *कहानी: स्वरुप और संवेदना*, पृ. 112.

अभिव्यक्ति का साधन है और शैली उस साधन का उपयोग करने की रीति। जब हम उपन्यासों के भाषागत रूप का अध्ययन करते हैं तो शिल्प उसकी बुनावट के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। 'शिल्प' का शाब्दिक अर्थ ही है, किसी चीज के बनाने या रचने का ढंग अथवा तरीका। शिल्प पाठकों की रुचि के अनुसार साहित्य के चुनाव में केवल सहायक ही नहीं होता, अपितु शिल्पगत विशेषताओं के आधार पर उसे स्थायित्व भी प्रदान करता है। यहाँ शिल्प-विधि का अर्थ उपन्यास की संरचना है।

साहित्य में उपन्यास या अन्य विधा का कोई एक मानक और सर्वमान्य स्वरुप निर्धारित नहीं है। उपन्यास का अपना एक स्वतंत्र शिल्प होता है। निर्मल वर्मा का कथन है-

> हर रचना अपनी परिभाषा खुद लेकर चलती है इसलिए उसे किसी सामान्य या सार्वजनीन परिभाषा में बांधना असंभव जान पड़ता है। शब्दों के एक विशिष्ट संयोजन के भीतर जिस सृष्टि का दर्शन होता है, वह इतनी अनोखी और अद्वितीय है कि उसकी तुलना किसी दूसरी सृष्टि से करना असंभव जान पड़ता है।[138]

उपन्यास की पहचान उसके रूप से ही निर्मित होती है, इतना ही नहीं भिन्न-भिन्न उपन्यासों का रूप भी, बहुत सी बातों में समान होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न होता है। रूप की यह विशिष्टता ही उपन्यास विशेष की पहचान निर्मित करती है। यही बात उपन्यास के कथ्य पर भी लागू होती है। एक ही घटना पर विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गए उपन्यास अपनी अलग दृष्टि के कारण एक दूसरे से भिन्न भी होते हैं। उपन्यास की संरचना पर विचार प्रकट करते हुए गोपाल राय कहते हैं

> 'रूप' के भीतर ही 'संरचना' की समस्या निहित है। प्रकृति अपने वस्तु-रूपों की रचना किस प्रकार करती है, यह हम नहीं जानते, पर मनुष्य अपने वस्तु-रूपों का किन उपादानों से और किस प्रक्रिया से निर्माण करता है, इसकी तलाश संभव है। उपन्यास को ध्यान में रखें तो कथ्य, विजन, संवेदना, अनुभव,

[138]निर्मल वर्मा, *दूसरे शब्दों में*, पृ. 59.

विचार, कथा, पात्र, परिवेश, भाषा आदि उसके प्रमुख उपादान हैं। इन्हीं से उपन्यास बनता है। इन्हीं का संयोजन संरचना है।[139]

शिल्प के माध्यम से ही विषय प्रस्तुत किया जाता है और विषय ही शिल्प के लिए आधार प्रस्तुत करता है। विषय चुनाव के क्षेत्र में उपन्यास को जनवादी साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है। उपन्यास के लिए वे सभी विषय ग्रहणीय हैं। जिनके माध्यम से मानवजीवन और जगत की अभिव्यक्ति संभव है। समसामयिक परिस्थितियों को प्रस्तुत करने वाले सभी वर्ग के पात्र और सभी अंचल उपन्यास के विषय है। इस साहित्य रूप का उदय ही परिस्थिति विशेष की चुनौती को स्वीकार करने के लिए हुआ है जो इसके उदय और विकास-क्रम से जाना जा सकता है।

उपन्यास लेखन में कुछ उपकरणों की आवश्यकता होती है, जो उपन्यास की आधारभूत सामग्री कहलाती है। विद्वानों ने उपन्यास के छ: तत्व स्वीकार किए हैं। कथावस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। कथासाहित्य में इन सभी तत्वों का समवेश होता है परन्तु उपन्यास लेखन में ये तत्व विशेष स्थान रखते हैं। विलियम हेनरी हड्सन के शब्दों में, "plot, character, dialogue, time and place of action style and a stated or implied philosophy of life they, are the chief elements entering into the composition of any work of prose fiction, small or great, good or bad."[140] उपन्यास में छ: तत्वों के अलावा कुछ विद्वान द्वंद्व और कौतुहल आदि को भी उपन्यास के तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

'कथानक'और 'पात्र' उपन्यास के प्राणतत्व माने जाते हैं। उपन्यास की कथावस्तु में एक मुख्य कथानक होता है तथा कुछ प्रासंगिक कथाएं, उपकथाएं होती हैं। कथानक का सर्वप्रथम गुण विविध घटनाओं और कार्य-कलापों के संकलन और संचयन में पारस्परिक सम्बद्धता है, चूंकि इसके अभाव में प्रभावात्मकता की संभावनाएं कम हो जाती हैं। कथानक,जो काल्पनिक

[139]गोपल राय, *उपन्यास की संरचना*, पृ. 8-9.

[140] William Henry Hudson, *Introduction to the Study of English literature*, p.131.

होते हुए भी जीवन के निकट होता है। कल्पना के साथ-साथ वह विश्वसनीय होना चाहिए। हिंदी साहित्य कोष के अनुसार, "उस सत्य घटना से जिसकी संभावना का विश्वास नहीं जमाया जा सका, वह असंभव या असत्य घटना कहीं अधिक उपयोगी है, जिसे विश्वसनीय बनाकर कहा गया है।"[141] उपन्यास शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किया था। जिसे उन्होंने नाट्य विश्लेषण के संदर्भ में पताका स्थानक के चतुर्थ भेद और प्रतिमुख संधि के अंगविशेष के रूप में प्रयोग किया है। उपन्यास की कोई सर्वस्वीकृत परिभाषा देना संभव नहीं है। व्यापक दृष्टि से वह गद्य शैली में लिखा गया साहित्य का एक रूप है जिसके मूल में एक कथा है। अरस्तू ने कथा के तीन तत्व माने हैं- प्रारम्भ, मध्य और अंत। इसके अतिरिक्त कथावस्तु के कुछ महत्वपूर्ण उपकरण भी हैं- कथासूत्र, मुख्यकथानक, प्रासंगिक कथाएं, उपकथानक, पात्र, समाचार, प्रमाणिक लेख और डायरी आदि।

उपन्यास में मुख्य और गौण कथाएं दोनों ही परस्पर संबंध के साथ कौतुहल और रोचकता के लिए अनिवार्य हो जाती हैं। कथावस्तु में सार्वभौमता अनिवार्य गुण है। जब तक वह मानव जीवन के संघर्षों, उसकी कामनाओं, आकांक्षाओं, राग-द्वेष, अभावों आदि का चित्रण नहीं करेगा तब तक उपन्यास पाठक के समक्ष अपनी सार्थकता के साथ प्रस्तुत नहीं हो सकेगा। इसलिए उपन्यास की कथावस्तु के चुनाव के लिए एक मात्र कसौटी यह है कि वह जीवन को समग्र और स्वभाविक रूप में प्रस्तुत करे। कथा-प्रसंग के चयन के पश्चात कथा-सामग्री को क्रमबद्ध, सुसम्बद्ध रूप में नियोजित करना आवश्यक होता है। चूंकि पाठक की उत्सुकता और जिज्ञासा के लिए यह महत्वपूर्ण है। कथानक में तीन गुणों का होना आवश्यक माना जाता है, रोचकता, संभाव्यता और मौलिकता।

[141]संपादक- धीरेंद्र कुमार, *हिंदी साहित्य कोश*, भाग-1, पृ. 156.

भूमंडलीकरण के दौर में लिखे गये उपन्यासों में घटनाओं को विवरण के रूप में चित्रित किया गया है। समय, कथानक, चरित्र-चित्रण तथा भाषा के नए प्रयोगों ने आधुनिक उपन्यास को जो नया स्वरुप दिया है, उसकी तात्विक विवेचना नितांत असंभव है। आधुनिक उपन्यास में कथानक का क्रमश: ह्रास होता जा रहा है। कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि, कथानकविहीन उपन्यास संभव है। वे जीवन को क्रमबद्ध रूप में स्वीकार नहीं करते जबकि कथानक में घटनाओं का क्रमबद्ध विकास होता है। संभवत: आज जीवन में असंबंध घटनाओं की व्यापकता बढ़ती जा रही है। इसलिए भूमंडलीकरण के दौर में लिखे जा रहे उपन्यासों में प्रत्येक उपकरण का होना अनिवार्य नहीं रह गया है। पाठक को परिस्थितियों से भली-भांति परिचित कराने के लिए विवरण का सहारा लिया गया है, लेकिन वर्तमान समय में लिखे जा रहे उपन्यासों में विवरण को उबाऊ न बनाकर सहज भाषा में सामाजिक या मानसिक स्थिति का चित्रण किया गया है। अखिलेश 'निर्वासन' उपन्यास में चित्रित करते हैं,

> अन्न की दशा अब तक और बिगड़ गयी थी। खेत, खलियान, बखार, बोरे, बोरियां, गट्ठर खाली हो गये थे बस चुनिन्दा घर थे जहां राशन की कमी नहीं थी। इन घरों के मुखिया अपने भंडारण के बारे में जानकारी छिपाए रखे थे। जब ग्रामवासियों की भूख असहाय हो गयी और वे किसी भी कीमत पर राशन पाने के लिए तड़फ़ड़ाने लगे तो उन्होंने थोड़ा अनाज ज्यादा कीमत पर बेचने की घोषणा की। खेतों में काम नहीं था इसलिए श्रम बेचकर काम नहीं पाया जा सकता था।[142]

गद्य में विवरण के साथ-साथ वर्णन और विश्लेषण की भी क्षमता होती है।

'कथात्मकता' उपन्यास का मुख्य गुण होने के कारण कहानी कहने की कला इसकी मुख्य विशेषता होनी चाहिए। उपन्यास की कथा में कल्पना का समावेश होने के बाद भी उसमें वास्विकता का आभास होना चाहिए। उपन्यास में वर्णित स्थितियां और उसके मनोभाव कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों उसमें भाषा का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए कि पाठक पात्रों की

[142]अखिलेश, *निर्वासन,* पृ. 51.

गतिविधियों को जानने के लिए बेचैन और उत्सुक रहे। विस्थापन की भयावह स्थिति को दिखाने के लिए उपन्यासकारों ने ऐसी ही भाषा का सहारा लिया है। जहां विभिन्न पात्रों के मध्य भावनाओं, विचारों और कार्यों की ऐसी टकराहट है जिससे निरंतर स्थितियां बदलती दिखाई देती हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में मानव जाति ने विकास के नए प्रतिमान गढ़ लिए हैं। भिन्न सभ्यता, संस्कृति और भाषागत विविधताओं को दरकिनार करते हुए, वैश्विक गाँव के निर्माण की ध्वनि को गुंजायमान किया है। प्रसिद्ध कहानीकार हिमांशु जोशी ने अपनी कहानी संग्रह की भूमिका में इस बात पर विचार किया है कि कथा के रूप में किस तरह परिवर्तन आ रहा है।

> साहित्य की विधाएं भी नए-नए रूपों में परिभाषित हो रही हैं। कहानी, कहानी तक सीमित न रहकर, विशुद्ध सच का पर्याय भी बन रही हैं। जीवनियां जीवंत कथाओं का रूप ले रही हैं। आत्मकथाएं औपन्यासिक शैली में पाठकों को अधिक रिझा रही हैं। यानी जो जैसा है, उसे हमें उस रूप की अपेक्षा किसी दूसरे रूप में देखना अधिक स्वाभाविक लग रहा है।[143]

वर्तमान समय में लिखे जा रहे उपन्यासों की भाषा में सबसे बड़ा परिवर्तन यह आया है कि इनकी भाषा ने शुद्धता-बोध को त्याग कर सहज और सरल भाषा को अपनाया है।

रणेंद्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी असुर समुदाय के माध्यम से हाशिए के लोगों का इतिहास और और यथार्थ एक नयी अंतर्दृष्टि और भाषा के साथ उभरकर सामने आता है। यह उपन्यास झारखंड की आदिवासी असुर जाति के अस्तित्व और अस्मिता के लिए चले अनवरत संघर्ष को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करता है। रणेंद्र उपन्यास की कथावस्तु के लिए उपन्यास के दायरे को एक छोटे इलाके से आगे निकालकर देश-देशांतर बना दते हैं। असुरों की त्रासदी के बहाने उपन्यासकार ने विश्व के उन समस्त आदिवासी समुदायों को भी उपन्यास के कथ्य में पिरो दिया है, जो विकास की आड़ में हो रहे अत्याचारों के खिलाफ नित संघर्षरत हैं।

[143]पुष्पपाल सिंह, *भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास*, पृ. 130.

उपन्यास के प्रारम्भ में ही 'असुर' संबंधी धारणाओं एवं प्रचलित कथाओं का खंडन करने का प्रयास होता है।

> तब कथा वाचक लालचन असुर से मिलता है और वह चकरा जाता है, सुना तो था कि यह इलाका असुरों का है, किन्तु असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लम्बे-चौड़े, काले-कलूटे, भयानक दांत-वांत निकले हुए, माथे पर सींग लगे हुए होंगे लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पुलट हो गया था। बचपन की साड़ी कहानियां उलटी घूम रही थीं।[144]

लेकिन इस उपन्यास में एक दुर्बलता यह है कि विश्व की तमाम जनजातियां जोकि विलुप्त हो गयी हैं उन्हें मात्र कुछ पन्नों में ही समेटने का प्रयास करते हैं जैसे -इंका, माया तथा रेडइंडियंस और अमेरिका की चेराकी जनजाति। इसी के साथ इसमें अनेक प्रसंग एक साथ आते हैं जिससे यह किसी एक बिंदु पर केन्द्रित नहीं हो पाता है। जैसे भेड़िया अभ्यारण बनाने के लिए सैंतीस वन गाँव के आदिवासियों को उजाड़ने की सरकारी नीति, वन विभाग के अधिकारियों द्वारा गाँव को निर्जन दिखाना, वेदांग (अंतर्राष्ट्रीय कम्पनी) को अभ्यारण्य के लिए अधिग्रहित जमीन पर तारबंदी का ठेका देकर राजनीति करना आदि। इन सभी प्रसंगों को गहनता न देकर अत्यंत सरलीकृत कर दिया गया है। असुर और बिरजिया जनजातियों का चित्रण 'ग्लोबल गाँव के देवता' में दिखाई देता है।

रणेंद्र 'गायब होता देश' उपन्यास में मुंडा जनजाति को आधार बनाते हैं। सोमेश्वर मुंडा, नीरज पाहन, अनुजा पाहन, सोनमनी दीदी के संघर्ष के बहाने पूरा मुंडा इतिहास वर्तमान में उपस्थित हो जाता है। अधिकांशत: उपन्यास में जादुई सी लगने वाली प्रथाओं और मान्यताओं से परिचय करवाया जाता है, जो बाहरी समाज के लिए अंधविश्वास हो सकता है परंन्तु 'मुंडा' समाज के लिए यह अभ्यासगत दिनचर्या है। लेमुरिया महाद्वीप और मेगालिथ की उर्जा-संभावना पाठक को इतिहास से लेकर वर्तमान तक की यात्रा करवाती है। इस उपन्यास की बुनावट कुछ इस

[144] रणेन्द्र, *ग्लोबल गाँव के देवता*, पृ. 11.

प्रकार की है जिसमें कथ्य और शिल्प आपस मिल गए हैं। 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' उपन्यास में अलका सरावगी कथानक को एक नवीन प्रयोग के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं। जहां जयगोविन्द उपन्यास का वास्तविक पात्र है और जयदीप उसके आत्मकथात्मक उपन्यास का नायक। दोनों एक ही चेहरे के दो नाम हैं। यह उपन्यास जयगोविन्द और जयदेव को केंद्र में रखकर

भारत की आज़ादी के कुछ समय बाद पैदा हुई पीढ़ी की कहानी कहता है। इस उपन्यास के कथानक के कई छोर हैं और केन्द्रीय कथा के साथ साथ कई उपकथाएं भी चलती हैं। कई बार पाठक इन उपकथाओं के साथ चलते हुए खुद को भ्रमित महसूस करते हैं लेकिन उनका यह भ्रम कहानी के आगे बढ़ने के साथ दूर होता जाता है। कथानक के पश्चात् उपन्यास में दूसरा महत्वपूर्ण अंग पात्र या चरित्र होते हैं। उपन्यास की घटनाएं जिससे संबंधित होती हैं वे पात्र कहलाते हैं। इन्हीं पात्रों के विभिन्न क्रियाकलापों से कथावस्तु का निर्माण होता है। मनुष्य का अस्तित्व उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र में निहित होता है। जिसके माध्यम से उपन्यासकार अपनी कृति में उद्देश्यों की स्थापना कर उसे शाश्वत सत्यों तथा स्थाई मूल्यों में समन्वित करता है। सामाजिक परिस्थितियां कहाँ तक मनुष्य को प्रभावित करती हैं, और क्या प्रभाव डालती हैं। इसी का चित्रण करना उपन्यासकार का ध्येय होता है।

उपन्यास के पात्रों और मानव जीवन में अनुरूपता न हो तो उपन्यास में न तो सुख-दुःख की संवेदना मिल सकेगी और न ही हमारा तादात्म्य पात्रों से हो सकेगा। जीवनानुभूति के समान उपन्यास में भी ऐसे चरित्रों की अभिव्यक्ति अपेक्षित है, जिनकी भावनाओं, समस्याओं तथा अन्य अनुभूतियों के साथ समन्वय किया जा सके। इसी कारण प्रेमचंद ने उपन्यास को 'मानव जीवन का चित्र' कहा है। पात्र जितने सजीव होंगे, कथानक उतना ही यथार्थ के निकट लगेगा। वस्तुतः पात्रों की स्वाभाविकता इसी में है कि वे जीवन की सहजवृत्ति राग, द्वेष, घृणा, क्रोध, करुणा, उत्साह

आदि से स्वयं भी प्रभावित हों और पाठकों को भी कर सकें। पात्रों के व्यवहार और उनके क्रिया-कलाप उपन्यास को गतिशीलता प्रदान करते हैं।

उपन्यास के सभी पात्र एक समान प्रकृति के नहीं होते। कोई साधारण, कोई वर्ग विशेष तथा कोई अपना विशिष्ट व्यक्तित्व प्रस्फुटित करता हुआ आगे बढ़ता है तो कोई मुख्य पात्र के सहयोग के रूप में। कथानक में गतिशीलता, रोचकता, स्वाभाविकता, गुण आदि चरित्र-चित्रण के माध्यम से ही संभव हैं। पात्रों का चरित्र-चित्रण तीन प्रकार का माना गया है- पात्रों के कार्यों द्वारा, संवाद के माध्यम से और लेखक के कथन और व्याख्या के द्वारा। सभी पात्रों में स्वभावगत विशेषताएं होती हैं। मुंशी प्रेमचंद के शब्दों में, "उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है, उसमें विकास-दोष है तो उपन्यास कमजोर हो जायेगा।"[145] उपन्यासकार जीवन की निकटता के कारण ऐसे पात्रों का निर्माण करता है, जो हमारे आसपास की दुनिया से संबंध रखते हैं। स्काट मेरेडिथ के शब्दों में, "चरित्र-चित्रण किसी गद्य के पात्रों की वैयक्तिक तथा विशिष्टताओं के पारस्परिक वैभिन्य का स्पष्टीकरण करनेवाली एक प्रणाली है।"[146] आधुनिक उपन्यासों की यह विशेषता है कि उसके पात्र सहृदय होते हैं। समाज के घात-प्रतिघात के अनुसार ही उनका सहज विकास होता है। पात्रों के चित्रण के लिए उपन्यासकार कई प्रकार की विधियों का प्रयोग करता है। कभी लेखक स्वयं पात्रों के बारे में कुछ कहता है, कभी पात्र आपस में वार्तालाप करते हैं। एक स्थिति में पात्र स्वयं या दूसरों के बारे में सोचता है। कभी-कभी लेखक प्रसंगवश उन घटनाओं का वर्णन करता है, जिनका वर्णन पहले न किया गया हो या पूर्व में घटित किसी घटना का चित्रण करवाता है। इन सभी विधियों से पात्रों के जीवन चरित्र के विभिन्न पक्ष पाठकों के सामने खुलने लगते हैं।

---

[145]प्रेमचंद, *कुछ विचार*, पृ. 68.

[146]घनश्याम 'मधुप', *हिंदी लघु उपन्यास*, पृ. 22.

'विश्लेषणात्मक पद्धति' के अंतर्गत उपन्यासकार स्वयं पात्रों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जिन परिस्थितियों में कोई घटना घटित होती है लेखक स्पष्ट करता चलता है। रणेंद्र ने 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में चरित्रों की मनोदशा को अभियक्त करने के लिए दूसरे प्रकार का सहारा लिया है। जिसमें रचनाकार पात्रों की मन:स्थिति का आंकलन करके उन पर सरकारी निगाह डाल उन्हें अच्छे या बुरे में विभाजित करते हैं। वे असुरों के विघटन के लिए बाज़ार को दोषी मानते हैं किन्तु रुमझुम, सुनील, ललिता तथा लालचन दा पर प्रश्न नहीं उठाते जो परिस्थितियों से मुकाबला करने के बजाए मुहं मोड़ लेते हैं। 'संवादात्मक पद्धति' के माध्यम से पात्रों का जीवन चरित्र उनके संवादों के माध्यम से सामने आता है। आपसी वार्तालाप से उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त लेखक किन्हीं पात्रों के संवाद के माध्यम से अन्य पात्रों के जीवन के बारे में भी स्पष्ट करता है। 'पूर्ववृत्तात्मक पद्धति' के अनुसार लेखक पात्रों के बारे में जानकारी देने के लिए उन अध्यायों को खोलता है जो जीवन के पूर्व पक्ष से संबंधित होते हैं। और जिनका चित्रण पहले नहीं किया होता। परिस्थिति और समयानुसार उनका उल्लेख करके लेखक पात्रों से जुड़े विभिन्न तथ्यों को सामने रखता है।

उपन्यास में पात्रों का चित्रण दो रूपों में होता है। 'मुख्य पात्र' और 'गौण पात्र'। नारी और पुरुष दोनों ही मुख्य पात्र भी हो सकते हैं और गौण पात्र भी। मुख्य पात्र की संज्ञा उन्हें दी जाती है। जिनके आस-पास उपन्यास की पूरी कथा चलती है। गौण पात्र मुख्य पात्र के चरित्र को उभारने और कथानक को गति प्रदान करने में सहायक होते हैं। गौण पात्र कथा में बराबर चलते हैं या कथा को विस्तार देने के लिए बीच-बीच में लाये जाते हैं।

> इन्हीं के कारण उपन्यास में अभिनीत नाटक जैसी विशदता और स्वाभाविकता अपने आप आ विराजती है। उपन्यास के पात्रों का संवाद जितना स्वाभाविक और प्रसंगानुसार होगा, वह उतना ही सफल होगा।

वस्तुतः उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो, लेखक की कलम से जितना ही लिखा जाए, उतना ही अच्छा है।[147]

विस्थापन और प्रव्रजन से संबंधित उपन्यास देश, काल, युगीन यथार्थ और वैचारिक अंतर्विरोधों को ही चित्रित नहीं करते बल्कि ऐतिहासिक संक्रमण में मानवीय जिजीविषा और प्रतिरोध की संस्कृति के आख्यान भी रचते हैं। विगत कुछ वर्षों में विभिन्न रचनाकारों ने अपनी-अपनी अभिरुचि, क्षमता, विचारधारा और दर्शन के अनुकूल 'कथ्य और शिल्प' के स्तर पर नयी जमीन तैयार की है।

कथोपकथन या संवाद उपन्यास की तीसरी सबसे महत्वपूर्ण कड़ी मानी जाती है। पात्रों के मनोयोग, राग-द्वेष तथा अभिलाषा आदि की सजीव अभिव्यक्ति संवाद के माध्यम से ही संभव हो पाती है। उपन्यास में सजीव और सार्थक कथोपकथनों का विशेष महत्व होता है। संवाद उपन्यास का ऐसा तत्व है, जिसके माध्यम से पाठक पात्रों के घनिष्ठ संपर्क में आता है तथा उसे दृश्य काव्य की सजीवता और वास्तविकता की अनुभूति होती है। यद्यपि संवाद नाटक का प्रमुख तत्व माना जाता है, लेकिन कहानी, उपन्यास, काव्य आदि में प्रवेश पाकर नाटकीयता के साथ संवाद उसे और आकर्षक बना देते है। प्रसिद्ध कवि लेंफार के अनुसार, "प्रत्येक युग में सर्वश्रेष्ठ लेखकों ने कथोपकथन शैली में ही अपने विचारों को प्रकट किया है।"[148] पाश्चात्य विद्वानों में सजीव कथोपकथन में सुकरात का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। संवादों का कथानक से प्रत्यक्ष संबंध होता है। उपन्यास की प्रत्येक घटना विवरणात्मक होती है। संवादों के माध्यम से ही अतीत की सूचना और भविष्य का निर्देश दिया जाता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में कथोपकथन सर्वाधिक सहायक होता है। कथोपकथन का प्रयोग कथानक में निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए किया जाता है,

---

[147]प्रेमचंद, *कुछ विचार*, पृ. 70.

[148]डॉ प्रतापनारायण टंडन, *हिंदी उपन्यास कला*, पृ. 226.

1. कथानक को गति प्रदान करना।

2. पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करना।

3. कथाकार के उद्देश्यों को स्पष्ट करना।

4. कथोपकथन के ब्याज से पूर्व संकेत देना।

5. कथोपकथन के माध्यम से वातावरण-सृष्टि करना आदि।

संवादों के महत्त्व को बताते हुए विलियम हेनरी हड्सन कहते हैं, "Dialogue well managed is one of the most delightful elements of a novel."[149] दरअसल संवादों से उपन्यासों में एक नाटकीयता आ जाती है। संवाद पाठकों की उत्सुकता को निरंतर बनाए रखते हैं साथ ही कथा में रोचकता का समावेश भी होता है। जहां वर्णन से काम नहीं चलता वहां उपन्यासकार कथोपकथन की ही मदद लेता है। संवाद एक प्रकार से उपन्यास में वातावरण निर्मित करने का काम करते हैं। इसलिए संवाद-योजना देशकाल और कथ्य के अनुरूप होनी चाहिए। वर्तमान समय में लिखे जा रहे उपन्यासों में कथोपकथन की न्यूनता दिखाई देने लगी है। उदाहरण के लिए रणेंद्र जब 'गायब होता देश' की रचना करते हैं तो संवादों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि एक-एक वाक्य अलग-अलग स्थिति और गतिविधि का प्रमाण प्रस्तुत करता है। जैसे,

> इन नजदीकियों ने कई रंग दिखाए। छह-आठ महीने में निरंजन राणा के नेटवर्क ने नोएडा से सुनील शर्मा को और कलकत्ता से वीरेंद्र बनारसी को गिरफ्तार करवा दिया। पाण्डेय साहब का सितारा बुलंदियों पर जा पहुंचा। गणतंत्र दिवस पर खुद राष्ट्रपति ने विशिष्ट सेवा मेडल से नवाजा। एक ओर उसका करियर तो रॉकेट की तरह सातवें आसमान से थोड़ा ही नीचे था, दूसरी ओर घरेलू मोर्चे पर करियर डगमगा रहा था। वहां मेम साहब का पारा चढ़ते रहता।[150]

---

[149] William Henry Hudson, An Introduction to the Study of English Literature, p.154.
[150]रणेन्द्र, *गायब होता देश*, पृ. 115.

उपन्यासों में डायरी, पत्रों आदि का प्रयोग होने लगा है। कुछ उपन्यास 'मैं' शैली में भी लिखे जाते हैं जिनमें कथोपकथन की मात्रा बहुत कम होती है।

उपन्यास की स्वाभाविकता की दिशा में 'देशकाल वातावरण' बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। देशकाल के चित्रण से उपन्यास में घटित होने वाली घटनाएं समय और स्थान को उपस्थित कर देती हैं। उपन्यास में देशकाल का यह चित्रण समसामयिक और ऐतिहासिक दोनों होता है।उपन्यासकार को देशकाल के अनुसार ही पात्रो, संवादों, घटनाओं, प्रसंगों, रीतियों और परम्पराओं आदि का चित्रण करना होता है। इससे कथानक में पुष्टता आती है और वह विश्वसनीय भी बनता है। उपन्यास की वस्तु, पात्र, कथ्य देशकाल और वातावरण के भीतर से ही उत्पन्न होते हैं। देशकाल और वातावरण केवल प्राकृतिक ही नहीं होता है बल्कि वह सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक भी होता है। उपन्यास में देशकाल के महत्त्व को स्वीकार करते हुए गुलाबराय लिखते हैं,

> कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की भांति देशकाल के बंधन में रहते हैं। इसलिए देशकाल का वर्णन आवश्यक हो जाता है। और घटनाक्रम को समझने के लिए भी इसकी आवश्यकता होती है। आज बढ़ते हुए वस्तुवाद के समय में देशकाल का महत्त्व और भी बढ़ गया है। लेकिन देशकाल में वास्तविकता लाने के लिए स्थानीय ज्ञान बहुत आवश्यक है।[151]

सामाजिक कथाओं से अधिक, ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल की अपेक्षा रहती है। ऐतिहासिक उपन्यास एक विशिष्ट युग का चित्रण करता है, अर्थात् किसी विशेष युग की विशिष्ट घटना का चित्रण करते समय यह आवश्यक हो जाता है कि लेखक उस विशिष्ट युग की सामाजिक रीति-नीति, आचार-विचार, प्रथा-प्रचलन आदि परिस्थितियों से पूर्णत: परिचित हों। इसके अतिरिक्त उस काल की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान भी कहानी के लिए अपेक्षित होता है;

[151]डॉ. गुलाबराय, *काव्य के रूप*, पृ. 73.

चूंकि बीते युग की घटनाओं के सरल एवं सजीव चित्रण में तभी सफलता मिल सकती है जब वह पुरातत्व का ज्ञाता हो। ऐसा न होने पर लेखक युग के सजीव चित्रण में सफल नहीं हो पाता है।

मानव जीवन की समग्रता का सजीव और संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करके साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा, उपन्यास की शिल्पविधि की संरचना में शैली महत्वपूर्ण स्थान रखती है। चूंकि शैली को ही अभिव्यक्ति का विशिष्ट अंग माना जाता है।वर्तमान समय में लिखे जा रहे उपन्यासों में भाषा शैली के कारण ही उन्हें विशेष महत्व दिया जाता है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक लेखक अपनी शैली का निर्माण भी स्वयं करता है। प्रेम भटनागर के अनुसार, "प्रत्येक कथाकार का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है। इसी प्रकार उसकी एक स्वतंत्र शैली भी होती है। यह शैली उसके विचार, भाव, कल्पना, संस्कार, स्वभाव, जीवन-दृष्टि के अनुरूप अभिव्यक्ति पाती है।"[152] भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा सबसे महत्वपूर्ण माध्यम है। भाषा जितनी सरल, प्रांजल, भाषाभिव्यंजक और बोधगम्य होती है वह पाठक पर उतना ही अधिक प्रभाव डालती है। इसलिए भाषा का स्वाभाविक और यथार्थपरक होना अत्यंत आवश्यक है।

'कथ्य' की मांग के अनुसार उपन्यासकार विविध शैलियों का प्रयोग करता है। शैली लेखक के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग भी मानी जाती है। लेखक का व्यक्तित्व उसके जीवन संबंधी दृष्टिकोण, भाव, कल्पना, संस्कार आदि पर निर्भर करता है। शैली उपन्यास का वह तत्व है, जिसके द्वारा अन्य तत्वों का नियोजन किया जाता है। विभिन्न साहित्य रूपों के साथ भाषा में भी परिवर्तन होता रहता है। विषय, प्रतिपाद्य, देशकाल और समाज की भिन्नता उपन्यासों के भिन्न रूपों का निर्माण करती है, जिससे प्राय: भाषा में भी भिन्नता देखने को मिलती है। मुंशी प्रेमचंद का कथन है,

---

[152]डॉ. ओम भटनागर, *हिंदी उपन्यास शिल्प, बदलते परिप्रेक्ष्य*, पृ. 31.

मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाए, वह सब का सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित तथा सुंदर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने वाला गुण हो। साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाई और अनुभूति व्यक्त की गयी हो।[153]

अत: इस कथन से स्पष्ट है कि जहां साहित्यिक रचनाओं में संप्रेष्य वस्तु की आवश्यकता होती है वहीं चित्त पर प्रभाव डालने वाली प्रौढ़ भाषा भी अनिवार्य होती है। प्रौढ़ और प्रभावी भाषा के अभाव में अभिव्यक्ति की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

उपन्यास के पात्रों की मन:स्थिति परिवेश आदि के आधार पर भाषा का रूप निर्माण होना अत्यंत आवश्यक है। 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' उपन्यास में लेखिका पात्रों के चरित्र को ऐसे गढ़ती हैं कि अतीत से भविष्य तक उसकी व्यापकता बनी रहती है लेकिन जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती है पात्र अंत तक एक व्यक्ति के रूप में रह जाते हैं।जिनका दायरा सीमित लगने लगता है। उपन्यास की भाषा पात्रों के विचारों एवं भावों को उचित ढंग से प्रस्तुत कर पाने में असहज और अस्वाभाविक प्रतीत होती है। अत:भाषिक सामर्थ्य से ही रचना में कलात्मक दीप्ति, शिल्प सौष्ठव आदि का सौन्दर्य विधान होता है। उपन्यासों में स्वाभाविकता लाने के लिए पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग उपन्यास को अत्यंत महत्त्वपूर्ण बना देता है। वर्गगत विशेषताओं से युक्त पात्र, देशकाल, परिस्थितियां और समाज आदि को दृष्टि में रखकर ही भाषा का प्रयोग किया जाता है।

उपन्यासकार की भाषा और उपन्यास में चित्रित पात्रों की भाषा का व्यवहार अलग-अलग होता है। इसलिए उपन्यास में जब पात्र और घटनाएं विषय को स्पष्ट करने में असमर्थ हो जाती हैं तो लेखक स्वयं की टिप्पणियों आदि से कथा को आगे बढ़ाता है।ऐसे समय में लेखक की भाषा भी मूल्यांकन की अपेक्षा रखती है। पात्रों के अनुकूल भाषा प्रयोग के महत्त्व को सर्वप्रथम प्रेमचंद ने समझा था। समसामयिक समस्याओं के संदर्भ में लिखे गए उपन्यासों की

[153]आचार्य कपिल, *साहित्य चिंतन*, पृ. 24.

भाषा, ऐतिहासिकता, समस्यामूलक एवं मनोवैज्ञानिक आदि उपन्यासों की स्थिति से सर्वथा भिन्न होती है। इनमें ऐसे पात्रों को चित्रित किया जाता है जो वर्तमान समाज से या तो पूर्व के हैं अथवा विशिष्ट गुणों के कारण समाज से अलग जान पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में भाषा के सिद्धांत को किसी न किसी रूप में स्वीकार करना होता है। वर्णन और चित्रण को विश्वसनीय बनाने के लिए उपन्यासों में क्षेत्रीय बोलियों और लोकगीतों का भी प्रयोग किया जाता है। क्योंकि उपन्यास जीवंत साहित्य रूप है जो जनता का साहित्य है। अत: जन-जीवन से जुड़े रहने के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्रीय बोलियों का प्रयोग किया जाए।

सभी उपन्यासों में भाषा-प्रयोग की समान पद्धति नहीं पाई जाती। एक स्तर की भाषा किसी विशेष उपन्यास के अनुकूल कार्य करती है। अनुभूतियों की गहराईयों और पात्रो के मनोविज्ञान को चित्रित करने के लिए जब पात्र परस्पर संवाद की स्थिति में नहीं रहते तो लेखक ऐसी स्थिति में अस्पष्ट ध्वनियों और अधूरे वाक्यों का प्रयोग करता है। उपन्यास लेखन में ‘उद्देश्य’ को एक स्वतंत्र तत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। कथा प्रस्तुत करने के साथ-साथ उपन्यासकार अपनी जीवन-दृष्टि को भी पाठकों के सामने रखता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है, “उपन्यासकार है ही नहीं, यदि उसमें अपनी दृष्टि न हो और उस विशेष दृष्टि पर उसका दृढ़ विश्वास न हो।”[154] कोई भी उपन्यास अपने उद्देश्य से ही बड़ा बनता है। बिना उद्देश्य के उपन्यास की कल्पना नहीं की जा सकती। उपन्यासकार अपनी रचना में दो प्रकार से लक्ष्यपूर्ति करता है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पद्धति। संक्षेप में कहें तो उपन्यास सोद्देश्यपूर्ण होना चाहिए और उसकी अभिव्यक्ति भी कलात्मक रूप में होनी चाहिए।

बीसवीं शताब्दी के दौर में हिंदी उपन्यास यथार्थवादी संरचना के प्रयोगों को संगठित करन में लगा हुआ था, वहीं दूसरी ओर फ्रांस और अमेरिका में उपन्यास की संरचना में नए-नए प्रयोग

[154]हजारीप्रसाद द्विवेदी, *साहित्य सहचर*, पृ. 92.

हो रहे थे। नया उपन्यास आंदोलन भी चलाया गया। विश्वयुद्ध और उपनिवेशवाद के अंत तक नवीन उपलब्धियों के कारण सामाजिक यथार्थ बिल्कुल बदल चुका था। उपन्यास लेखन की पृष्ठभूमि धीरे-धीरे बदलने लगी थी। अब उपन्यासों में दिक् और काल की अनिवार्यता कम होने लगी थी। हिंदी क्षेत्र में भी नवीन परिस्थितियां जन्म लेने लगी थीं। 'नया उपन्यास' आंदोलन से प्रभावित होकर कृष्णबलदेव वैद ने 'विमल उर्फ़ जाएँ तो जाएँ कहाँ' नामक उपन्यास की रचना की। चूंकि भारतीय जीवन के यथार्थ से कट जाने के कारण उन्हें अपने साहित्यिक जीवन को बनाए रखने के लिए एकमात्र रास्ता 'नया उपन्यास' का अनुकरण करना ही बेहतर प्रतीत हुआ। उपन्यास की संरचना में शिल्प, कथासंसार, भाषा आदि का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

आधुनिक समाज में पनप रही हताशा, भटकन, व्यर्थता बोध, ऊब और अनिर्णय की स्थिति ज्यादातर पश्चिम की देन है जिसका प्रभाव भारतीय समाज पर भी दिखाई देता है। यथार्थवादी संरचना वाले उपन्यासों में 'कल्पना' निर्मित यथार्थ संसार नहीं होता है। इन अनुभवों और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए परम्परागत भाषा महत्वपूर्ण नहीं रह जाती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में ऐसा ही होता है। जिसका कथ्य मनुष्य के चेतन संसार से सम्बद्ध न होकर उसके 'अचेतन' और 'अवचेतन' संसार से जुड़ जाता है।

उपन्यास की प्रत्येक संरचना में नवीन प्रयोग करने वाले हिंदी उपन्यासकारों में अलका सरावगी, प्रियंवद और विनोदकुमार शुक्ल के नाम लिए जा सकते हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ 'शिगाफ़' उपन्यास को ब्लॉग शैली में लिखती हैं। उपन्यास की भाषा में एक सहजता दिखाई देती है जो आपसी वार्तालाप में होती है। उपन्यास की कथा उसके उद्देश्य और समस्याएं आदि आपसी बातचीत के रूप में ही रखे गये हैं।हर ब्लॉग के उत्तर के रूप में प्रतिक्रियास्वरुप ब्लॉग को ही रखा गया है। "वन ऑफ अमंग सेन्सीबल ब्लॉग। गेट वैल सून। ड्रिंक टी विद 'अदरक'। योर सन

शाइन...जयपुर।"[155] उपन्यास में ब्लॉग के माध्यम से जब लेखिका अपनी बात रखती हैं तो उसके साथ-साथ तारीखों और दिवस का भी उपन्यास में पूरा ध्यान रखा जाता है। उपन्यास की भाषा को पढ़ते हुए ऐसा मालूम होता है कि हम दो लोगों के आपसी पत्राचार को पढ़ रहे हैं। "हिंदी में बोले तो, "अच्छी ब्लॉगों में से एक, जल्दी ठीक हो जाओ। अदरकवाली चाय पियो, तुम्हारा सूर्य प्रकाश...जयपुर से।"[156] इस प्रकार उपन्यास की भाषा में लगातार एक तारतम्यता बनी रहती है। भाषा पर विस्थापन का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है इसे भी लेखिका दिखाती हैं।

> रहमान सर जो शब्द बोल रहे थे, मेरे लिए परिचित होकर भी अजनबी से हो चले थे। मुझे उनके वाक्यों के अर्थ से ज्यादा वह लहजा और लय मोह रही थी। मैं इस मुलायम भाषा को पी रही थी, जो कभी मेरे बचपन की भाषा थी। अब तक मैंने न जाने कितनी भाषाएं सीख ली हैं। एक लम्बे विस्थापन का इतिहास होती हैं, सीखी हुई भाषाएँ।[157]

आज का उपन्यासकार बाह्य यथार्थ को अपने भीतर समेटकर, उसे आत्मसात करने के बाद अनुभव के स्तर पर संप्रेषित करता है। उपन्यास की भाषा निरंतर परिवर्तनशील रही है। समय-समय पर भाषा में नित नए प्रयोग किए गये। उदाहरण, भाषा को जनभाषा का रूप देने के लिए उसमें प्रादेशिक शब्दावली का प्रयोग किया जाने लगा।

> किशन दा अब केके कहलाते थे। सोमेश्वर बाबा से ज्यादा अब अशोक पोद्दार के साथ समय गुजारते। उनकी गरदनियाँ वाली नोचनी-खुजली बंद हो गयी थी।...नीरज दा को तो किशन दा कुकुर में तब्दील होते दिख रहे थे। लेकिन अनुजा दी ने उन्हें ज़ोर से हुड़क दिया और हम भी हंस कर टाल गए।[158]

पूर्वोक्त उदाहरण में बात को स्पष्ट करने के लिए क्षेत्रीय बोली का सहारा लिया गया है। पात्रानुकूल भाषा तथा परिस्थिति के अनुरूप विदेशी भाषा को भी स्थान मिलने लगा। अलका

---

[155]मनीषा कुलश्रेष्ठ, *शिगाफ़*, पृ. 20.

[156]उप. पृ.20.

[157]उप. पृ.92.

[158]रणेन्द्र, गायब होता देश, पृ.151.

सरावगी ने अपने उपन्यास 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' में पात्रों और परिस्थिति के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है जैसे,

> उनके बीवी बच्चे ही तैयार नहीं होंगे- 'हीट एंड डस्ट' और 'इन्फेक्शन' भरी इस धरती पर लौटने के लिए। मरा न अभी वह हॉलीवुड का फिल्ममेकर समरेन्द्र किल्ला उर्फ़ सैमकी बम्बई में अकेला! तुमको जहां जाना हो जाओ, जो करना हो करो, हम तो यूरोप की सीमा से उधर पूरब की तरफ़ नहीं जायेंगे। चूतिया तो वह सैमकी था, जिसने यह नौबत आने दी।[159]

> भाषा का वह रूप, जो हमारा अपना हो, उसके साथ हमारा आत्मीय संबंध होना आवश्यक है। चूँकि प्रमाणिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तभी अर्थवान हो सकती है, जब भाषा अपने जातीय संस्कारों के साथ सार्वजनीन रूप सहज और सरलता के साथ कथ्य को उपस्थित करती है।

'डूब' और 'पार' उपन्यास में 'लोकभाषा' का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है। इससे उपन्यास में आंचलिकता का पुट भी आ गया है। 'डूब' उपन्यास में देशज बुन्देली का प्रयोग किया गया है। चूंकि यह उपन्यास बुंदेलखंड के ललितपुर जिले चंदेरी कस्बे के एक गाँव की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। उदाहरण, "माते तुमने वो कहावत तो जरुर सुनी होगी कि बिलैया (बिल्ली) ने जानउर (शेर) को सबकुछ सिखा दओ तो, अकेलें (लेकिन) रूख (पेड़) पर चढ़ावों नहीं सिखाओ तो!"[160] 'पार' उपन्यास की भाषा भी बुन्देली ही है लेकिन यह आदिवासी द्वारा बोली जाती है। जैसे से "मुइया की जान आई सांसत में। आपद को तो उसने खुद की टेर लगाई थी। लाड़ में एक रोज छिरिया का थान गुनिया के मुंह में धर दिया था।"[161] इन वाक्यों में प्रयोग किये गए शब्दों का अर्थ हमें स्थानीय बोलियों में खोजना पड़ता है। इन दोनों उपन्यासों में बुन्देली

[159]अलका सरावगी, *जानकीदास तेजपाल मैनशन*, पृ. 36.
[160]वीरेंद्र जैन, *डूब*, पृ. 13.
[161]वीरेंद्र जैन, *पार*, पृ. 9.

के साथ-साथ खड़ी बोली का भी प्रयोग किया गया है। प्रो. श्यामाचरण दुबे ‘पार’ उपन्यास की भाषा के संदर्भ में लिखते हैं “पार के साथ भाषा की समस्या हो सकती है, जो मुझे तो बुन्देलखंडी होने के चलते नहीं हुई।”[162] उपन्यास में कहीं-कही काव्यात्मक भाषा का भी प्रयोग दिखाई देता है। “किसे सुना रहे हो ये बातें? कौन सुन रहा है तुम्हें? ये चंदा, ये तारे, ये दीवारें, ये खपरैल, ये गागर, ये कसैदियाँ, ये गुंड, ये घैला, ये घिनौची, ये ज्योरा, ये बाल्टी, ये गढ़ाई, ये गिलास, ये बिलिया, ये ताले, ये दरवाजे, ये खाट कि यह बिछौना?[163] इस प्रकार के वाक्यों में एक लय दिखाई देती है। जिससे संवादों में एक काव्यात्मकता दिखाई देती है। इसी तरह एक अन्य उदाहरण भी है।

> यह क्या से क्या हो गया!
>
> दौड़ों रे लोगों दौड़ों!
>
> धुतिया, पोल्का में रहते भी गुइयां ने हमरे को अलफ नंगा देख लिया!
>
> हे किशन, हे किशन ! तुम कहाँ हो ?
>
> हे धरती माई, तुम फटी क्यों नहीं अब तक?

इस प्रकार के वाक्यों में काव्यत्मकता के साथ गीतात्मकता भी दिखाई देती है। ‘पार’ उपन्यास में लेखक आदिवासियों की सहज भाषा में ही उनकी संस्कृति को दिखाता है जिससे कथा में कौतुहल बढ़ जाता है। अलका सरावगी के उपन्यास ‘जानकीदास तेजपाल मैनशन’ में एक ख़ास प्रकार की भाषा-शैली का प्रयोग किया गया है। भाषा में एक कसावट दिखाई देती है। जो पाठकों के समक्ष एक नरेटिव रचती है। एक-एक शब्द पूरी घटना को बिम्ब रूप में हमारे सामने रखता है।

> एक उसका कमरा है इस ‘जानकीदास तेजपाल मैनशन’ में, जहां वह वैसे ही रह, बोल और सोच सकता है, जैसा वह है या रहना चाहता है। जयदीप के सामने किताबों से भरा बुक-शेल्फ। स्टडी टेबुल। दीपा ने

---

[162]पार, putak.org

[163]वीरेंद्र जैन, डूब, पृ. 158.

जब पहली बार मकान की अँधेरी गंदी सीढ़ियां चढ़कर चौक के गलियारे से जाने कितनी जोड़ी आँखों की निगहबानी से होते हुए इस कमरे में कदम रखा था।[164]

'गायब होता देश' उपन्यास में दो संस्कृति और झारखण्ड के स्थानीय भाषा के कई शब्दों को साहित्य में प्रयोग किया गया है। चूँकि हिन्दी जगत में मुण्डारी, नागपुरी, कुडूख के स्वाद के साथ इतिहास को क्रमबद्ध तरीके से बताते चले गये हैं, जो उपन्यास की बड़ी खूबी है।

अब प्रसव के लिए जनाना लोग आई है तो उसको भी दू बोली। रतिये में दरद उठता है। तंग करने के लिए अऊर कोनो टाइम नयँ मिलता है? अब जो पहलौंठ-पेज-पहला बच्चा के लिए आई है उसको भी बोलेगा कि बच्चा पैदा करने का मशीने बन गयी है का? मरद को अऊर कौनो काम नहीं नयँ है?...आपको पानी चढ़ रहा है तो आप ही पानी का बोतलवो थामे रहिये या आपका संगी-हित पकड़ कर खड़ा रहे।[165]

धीरेन्द्र अस्थाना 'देश निकाला' उपन्यास में जब रिश्तों में विस्थापन को दिखाते हैं तो उनकी भाषा बहुस्तरीय हो जाती है। चूंकि भाषा में आई संवेदना के अलग-अलग रूपों के कारण ही उपन्यास के नायक गौतम के साथ भी पाठक को सहानुभूति का आभास होता है। उपन्यास में आए वर्णन और विवरण को लेखक ने अपनी सहज भाषा के माध्यम से ही साधा है। छोटे-छोटे वाक्य जीवन की घटनाओं और स्थितियों को दिखाने में सक्षम है। गौतम का कथन है, "काम ही हमारे जीने, हमारे होने का तर्क है मल्लिका।" फ़िल्मी दुनिया और मुंबई के रहन-सहन आदि को चित्रित करने के लिए लेखक ने भाषा में शब्दों के चयन भी माहौल के अनुसार रखा है। अंग्रेजी के छोटे-छोटे वाक्यों के साथ शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। जैसे- 'शो मस्ट गो ऑन', एडवाइज़ेबल, एनाउंसर, एबार्शन, ओह्ह शिट, ऑफकोर्स, फिजिकल एक्टिविटी, लॉरजर दैन लाइफ़, आदि। उपन्यास की भाषा को सहज और स्थान के अनुरूप ग्राह्य बनाने के लिए लेखक ने आम बोलचाल में आने वाले अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग बहुत सहजता के साथ किया है।

---

[164]अलका सरावगी, 'जानकीदास तेजपाल मैनशन', पृ. 62.
[165]रणेन्द्र, *गायब होता देश*, पृ. 228.

भाषागत अध्ययन में प्रोक्ति का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रोक्ति को अंग्रेजी में ‘डिस्कोर्स’ कहा जाता है। ‘डिसकोर्स’ का अर्थ है; व्याख्यान, प्रवचन, संभाषण तथा संवाद। जब किसी बात को कहने के लिए वाक्यों के समुच्चय का प्रयोग किया जाता है तो वह प्रोक्ति कहलाती है। प्रोक्ति की यह प्रक्रिया विचारों के आदान-प्रदान से जुड़ी होती है। वक्ता के द्वारा कहे गये वाक्यों का जब श्रोता सही अर्थ ग्रहण करता है तब प्रोक्ति की सार्थकता स्पष्ट होती है। भाषा का प्रमुख उद्देश्य सम्प्रेष्ण है, और प्रोक्ति अभिव्यक्ति की ही सतत प्रक्रिया है। प्रोक्ति के अंतर्गत वक्ता और श्रोता की भूमिकाएं बदलती रहती हैं। जैसे- “झूठ कह गई थीं वे ।” आवेश में आकर बताया अट्टू ने। 'झूठे काहे को कहा होगा उन्होंने लाला ?” “इसलिए, ताकि उन्हें वोट दो तुम लोग।" “वोट तो उन्हें हम देते ही देते।”[166] इस वाक्य में वक्ता और श्रोता की भूमिकाएं बहुत तेजी से बदलती हैं।

भूमंडलीकरण के दौर में लिखे जा रहे उपन्यासों में लेखक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जहाँ संवाद के माध्यम से पाठ आगे बढ़ता है, लेखक भाषा में ऐसे शब्दों या मुहावरों का प्रयोग करता है जिससे बात आगे बढ़ती है। उदहारण; “गौतम, एक अजूबा मेरे दिमाग़ पर गिरा है। 'मल्लिका, पहेलियाँ मत बुझाओ। बोलो क्या हुआ?' गौतम ने पूछा। 'मुझे अज़रा फिल्म्स से एक्टिंग का ऑफर मिला है। क्या करूँ?' मल्लिका ने पूरा सीन बताने में संकोच किया। कई बार ऐसा भी होता है जब उपन्यास में एक ही पात्र स्थिर रूप से विचार करता है और उसी के माध्यम से प्रोक्ति आगे बढ़ती है। जैसे; “बम्बई जाने का मतलब है एक दूसरा जन्म लेना। क्या इतना आसान है एक शहर को छोड़ देना- सारे परिवार, दोस्तों, हवा, पानी को?”[167] एकालाप के माध्यम से उपन्यास का पथ आगे बढ़ता है। इस प्रकार प्रोक्ति का स्वरुप बहुआयामी है। सभी प्रोक्तियों का प्रयोग सोद्देश्य और सप्रयोजन किया जाता है।

---

[166] डूब, वीरेन्द्र जैन, पृ.154

[167] जानकीदास तेजपाल मैंनशन, अलका सरावगी, पृ.50

उपन्यास में जीवन यथार्थ को अभिव्यक्त करने की प्रत्येक लेखक की अपनी भाषा-शैली और शिल्प होता है। इस यथार्थ में ही संवेदन स्तर, जीवन प्रसंगों की विविधताएं, स्थिति ग्रहण का सामर्थ्य आदि का परिचय उसका कला यथार्थ ही प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि उपन्यास में अन्य गद्य विधाओं का भी समावेश दिखाई देता है। वर्तमान समय में कोई भी साहित्यिक विधा अपने आप में सिमटकर नहीं रह गयी है। वह अपनी शैली, भाषा,वृत्ति आदि को चुनौती देती हुई नित नया रूप ग्रहण करती हैं। वर्तमान समय में लिखे जा रहे उपन्यास भाषाई शुद्धता की कृत्रिमता को त्यागकर क्षेत्रीय बोलियों के साथ अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग कर रहे हैं।

उपसंहार

हम वैश्वीकरण के दौर में जी रहे हैं जहां संपूर्ण विश्व परस्पर सहयोग और समन्वय की भावना के साथ आर्थिक गतिविधियों को प्रोत्साहन दे रहा है, वस्तुओं और सेवाओं पर लगाए गए प्रतिबंध हटा लिए गए हैं। संचार व्यवस्था ने पूरे विश्व को एकसूत्र में जोड़ने का कार्य किया है। इन सब गतिविधियों में कहीं न कहीं असुरक्षा का भय और स्वयं को शक्तिशाली देश के रूप में स्थापित करने की कवायद भी जारी है। सम्पूर्ण विश्व जहां एक ओर विकास की ओर अग्रसर हो रहा है, वहीं दूसरी ओर गांव और शहरों में हाशिए पर रह रहे लोगों को लगातार विस्थापन की समस्या से गुजरना पड़ रहा है। औद्योगीकरण के झंझावत ने लोगों को उनके घर से सदैव के लिए निर्वासित कर दिया है। आधुनिक भारत में विस्थापन और प्रव्रजन नवीन समस्या के रूप में उभरकर सामने आ रहे हैं। बाढ़, भूकंप, महामारी आदि अनेक कारणों से भी लोग अपने निवास स्थानों को छोड़कर अन्य स्थानों पर बस जाया करते थे, परंतु स्थिति सामान्य हो जाने के बाद, पुनः अपने विकास स्थान की ओर लौट आते थे। वर्तमान समय में विकसित विकास और उसकी अवधारणा ने लोगों को उन्मूलित किया है। अब वे अपने परिवेश में वापस नहीं लौटते। आधुनिक औद्योगीकरण ने मनुष्य को उसकी जड़ों से दूर कर दिया है। देश जहां एक तरफ परमाणु हथियारों को आधुनिक बनाने में लगे हैं वहीं दूसरी तरफ आर्थिक सशक्तिकरण को भी केंद्रीकृत करना चाहते हैं। बीते वर्षों में चीन विश्व शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया है जबकि अमेरिका और अब चीन विकास और बंधुत्व की आड़ में अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं। दोनों देशों के मध्य चल रहा व्यापारिक युद्ध इस बात का प्रमाण है। लेकिन कोरोना महामारी ने इन महाशक्तियों के साथ-साथ भारत जैसे विकासशील देशों की पूरी व्यवस्था को जबर्दस्त झटका दिया है। वर्तमान समय में स्वास्थ्य सेवाओं की अपर्याप्तता, आपदा से निपटने के लिए सरकार की

आर्थिक अक्षमता और उसकी मजबूत नीतियों की विफलता ने मजदूरों को प्रव्रजन के लिए विवश कर दिया है, जिसे केंद्र और राज्य सरकारें रोक पाने में असमर्थ हैं। देश के विकास में सड़कों से लेकर भवन निर्माण तक मजदूरों का योगदान रहा है। आज भारत का वही श्रमिक वर्ग दोहरे संकट का सामना कर रहा है जहाँ एक ओर महामारी का प्रकोप है वहीं दूसरी ओर रोजी रोटी का संकट। वैश्विक महामारी ने एक बार फिर असंतुलन की स्थिति पैदा कर दी है। निसंदेह देश के बंटवारे के बाद यह अब तक का सबसे बड़ा प्रव्रजन है।

विकास के इस व्यापक पहलू पर विस्तार से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह विकास विनाश की ओर समाज को अग्रसर कर रहा है प्रव्रजन की समस्या का सबसे बड़ा कारण जलवायु परिवर्तन है। अब प्रश्न यह उठता है कि आधुनिक औद्योगीकरण की इस प्रक्रिया में जलवायु परिवर्तन इतनी तीव्र गति से कैसे हो रहा है? अध्ययन के अंतर्गत जो आंकड़े प्राप्त हुए, उनसे ज्ञात होता है कि जलवायु परिवर्तन से जुड़ी त्रासदियां किस तरह गरीबी, भुखमरी और प्राकृतिक संसाधनों की सुलभता को प्रभावित करती हैं, जिससे हिंसा व अस्थिरता की स्थिति पैदा होती है। वर्ष 2010 के बाद जलवायु परिवर्तन संबंधी घटनाओं के कारण औसतन प्रत्येक वर्ष दो करोड़ से ज्यारा लोगों को प्रव्रजन के लिए विवश होना पड़ा। आज विश्व के लगभग सभी देश किसी न किसी प्राकृतिक आपदा से लगातार प्रभावित हैं जिससे खाद्य सुरक्षा और जल की समस्या भी बढ़ती जा रही है। यही कारण है कि शरणार्थियों, प्रवासियों और विस्थापितों के अपने परिवेश में लौटने की संभावना क्षीण होती जा रही हैं। कोरोना महामारी के कारण विस्थापितों और प्रवासियों की आजीविका भी समाप्त हो गयी है, जिससे वे निर्धनता की श्रेणी में शामिल होने के लिए विवश हैं। अधिकांश परिवार बढ़ती असुरक्षा के कारण आय में कमी और सामाजिक सुरक्षा सहायता में भी व्यवधान का सामना कर रहे हैं।

मनुष्य प्राचीन समय से ही प्रव्रजन करता रहा है इसलिए प्रव्रजन कोई नवीन क्रिया नहीं है। जैसे ही मनुष्य ने जीविकोपार्जन और सांस्कृतिक विकास की ओर कदम बढ़ाना शुरू किए, वह सभ्य बनता गया और उसने अपने लिए भौतिक और आर्थिक संसाधनों को जुटाना प्रारम्भ कर दिया। इससे आवागमन की प्रक्रिया में तेजी आई और उसकी गतिशीलता ने उसे विकास की ओर अग्रसर किया। परन्तु पिछले कई दशकों से औद्योगिक विकास ने सभी उपादानों को एक ही दिशा की ओर केंद्रीकृत कर दिया है जिसमें आर्थिक लाभ सर्वोपरि हो गया है। प्रारम्भ से ही औद्योगीकरण का सबसे ज्यादा लाभ पूंजीपति वर्ग को ही मिलता रहा है। भारत में एक तरह से 1853 में रेल निर्माण के साथ उद्योगों का विकास हुआ और अंग्रेजों द्वारा यह कार्य सिर्फ इसलिए किया गया था ताकि कारखानों को लगाने में आसानी हो और कच्चे माल को सहजता के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाया जा सके। इसी के साथ औपनिवेशिक शहरों मे आयात-निर्यात की प्रक्रिया को सुलभ बनाने के लिए आधुनिक बंदरगाहों का निर्माण भी किया गया। इस पूरी प्रक्रिया पर कार्लमार्क्स ने भी चर्चा की गयी है। रेल व्यवस्था भारत मे आधुनिक उद्योगों की जननी बनेगी। भारत मे रेलवे निर्माण के साथ-साथ कोयला खदानों और कपड़ा मिलो का भी विकास हुआ। 1890 तक लाखों की संख्या में मजदूर वर्ग इन कारखानों में कार्यरत था।

आधुनिक उद्योगों के पूर्व से ही ब्रिटिश सरकार लगातार नील की खेती, चाय और कॉफी के बगानों से लाभ कमा रही थी। इस पूरी प्रक्रिया में सबसे ज्यादा दयनीय स्थिति मजदूरों की थी। जो किसान अपनी थोड़ी सी भूमि से संतुष्ट थे वे भी नील की खेती के बाद हुई बंजर जमीन के कारण मजदूरी करने के लिए विवश हो गए। बंधुआ मजदूरों की संख्या बढ़ती जा रही थी; भारतीय मजदूरों को गिरमिटिया के रूप में फिजी, मॉरीशस, ट्रिनिडाड आदि देशों में भेजा जा रहा था। जिस समय भारतीय मजदूरों की खरीद फ़रोख़्त का व्यापार ब्रिटिश सरकार द्वारा चलाया जा

रहा था उसी समय कुछ रचनाकारों ने मजदूरों की दयनीय स्थिति को अपनी रचनाओं के माध्यम से दिखाया। जैसे, राजा लक्ष्मण सिहं का नाटक 'कुली प्रथा' जिसे अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रतिबंधित कर दिया था। गणेश शंकर विद्यार्थी, माधवराव सप्रे, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि लेखक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से मजदूरों के अधिकारों की बात कर रहे थे। हमारे देश मे मजदूरों की स्थिति में सुधार का एक लंबा इतिहास रहा है, विडम्बना यह है कि स्थिति आज भी संतोषजनक नहीं है। पहले ब्रिटिश सरकार के क्रूर साम्राज्यवादी रवैये ने मजदूरों, आदिवासियों और गरीब आमजन का शोषण किया और अब वर्तमान समय में विकास के नाम पर सरकारों और पूंजीपति वर्गों द्वारा किया जा रहा है। आज़ाद भारत को सैकड़ों तरह के संघर्षों का सामना करना पड़ा जो जमीन, भाषा, क्षेत्र, कृषि, धर्म आदि से संबंधित रहे हैं। लेकिन भारत में खाद्यान और कृषि उत्पादों की भारी कमी थी जो उस दौर की सबसे बड़ी चुनौती थी।

1960 तक आते-आते स्थिति तब और दयनीय हो गयी जब भारत को अकाल का सामना करना पड़ा। हालांकि देश की आज़ादी के साथ ही भारत में औद्योगिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं को भी लागू किया गया लेकिन इसका लाभ कुछ वर्गों तक ही सीमित रहा। नेहरु के बाद कृषि में सुधार लाने के उद्देश्य से सरकार ने कुछ राज्यों में नवीन प्रयोग किए। जैसे, मशीनीकरण, हाइब्रिड बीजों, कीटनाशकों, रासायनिक उर्वरक आदि का प्रयोग महत्त्वपूर्ण था। इसे हरित क्रांति के नाम से पुकारा गया जिसे बाद में संपूर्ण देश में औपचारिक रूप से लागू कर दिया गया। हरित क्रांति से ग्रमीण इलाकों में व्यापक स्तर पर बदलाव देखे गए, साथ ही अब किसान वर्ग बाज़ार की ओर भी उन्मुख होने लगा। इस क्रांति ने समाज में चली आ रही कुछ प्रथाओं का भी अंत किया जैसे जजमानी प्रथा, वस्तु-विनिमय व्यवस्था आदि। लेकिन यह कहना अनुचित नहीं होगा कि हरित क्रांति का लाभ कुछ किसानों तक ही सीमित रहा। इससे अमीर और गरीब

किसानों के बीच असमानता की खाई बढ़ती चली गयी। जबकि खेतों में लगने वाली लागत के बढ़ने से उत्पाद का मूल्य कम होने लगा जिसका परिणाम यह हुआ कि भूमि मालिकों द्वारा मजदूरों को खेतों से बेदखल किया जाने लगा। आजीविका के संकट ने लोगों को शहरों की ओर प्रव्रजन करने के लिए विवश किया। लेकिन इन संघर्षों के मध्य भी पूंजीपति वर्ग अपना स्वार्थ सदैव साधता रहा; जिसमें सरकारें भी बराबर की हिस्सेदार रहीं हैं। भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया का प्रसार बहुत धीमी गति से हुआ जिसका लाभ महज कुछ लोगों तक ही सीमित रहा।

अस्सी के दशक से ही देश में नस्ल के आधार पर ध्रुवीकरण भी शुरू हो गया था। नए आदिवासी राज्य झारखण्ड को लेकर आंदोलन तीव्र हो चला था, जिसमें कुछ हिंसात्मक घटनाएं भी हुयी। हिंदी उपन्यासकारों ने इस पूरी स्थिति को कथा का केन्द्र बनाया। जहां एक ओर शोषक और शोषित वर्ग की कहानियां थीं, वहीं दूसरी ओर प्रतिरोध के स्वर भी उठ रहे थे। इसी के साथ-साथ राज्यों के गठन की मांगे भी तेजी से उठ रही थीं। छत्तीसगढ़ और उत्तराखण्ड को मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश से विलग करने का प्रस्ताव रखा गया। छतीसगढ़ और उत्तराखंड दोनों ही राज्य प्राकृतिक संसाधनों से सम्पन्न थे। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की दृष्टि लगातार इन संसाधनों पर थी। असम की सीमा पश्चिम बंगाल और उत्तर-पूर्वी राज्यों के अतिरिक्त बांग्लादेश के भी निकट थी। असम की सरकारी भाषा असमी है लेकिन वहां बंगाली भाषा भी बोली जाती है, इसलिए असम में दोनों भाषाभाषियों के मध्य झगड़े का इतिहास काफ़ी पुराना है। इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध में जमीन पाने की लालसा में बंगलियों ने असम के निचले इलाके में आना शुरू कर दिया था, आजादी के बाद भी यह प्रव्रजन जारी रहा। पचास से साठ के दशक में अनेक प्रवासी दंगे भी हुए, जिसका मूल कारण था, प्रवासियों को उनके परिवेश में लौटने के लिए विवश करना।

सन् 1984 की भोपाल गैस त्रासदी सबसे बड़ी औद्योगिक दुर्घटना मानी जाती है। इस घटना के बाद अनेक लोग अपना शहर छोड़ने के लिए विवश हो गए। सन् 1885 से ही अर्थव्यवस्था को उदार बनाने का प्रयास शुरू हो गया था। उद्योगों को लाइसेंस देने की प्रक्रिया को उदार बनाया गया। मशीन, उपकरण, कपड़ा, कम्प्यूटर और दवा आदि के क्षेत्रों को विनिमंत्रित किया गया। इन सभी बदलावों के अंतर्गत भूमि अधिग्रहण की घटनाएं बढ़ने लगीं। कृषि योग्य भूमि का अधिग्रहण किया जाने लगा, वहीं दूसरी ओर उद्योग, कारखाने आदि लगाने हेतु ग्रामीण जनता को विस्थापन का दंश भी सहना पड़ा। इसी समय अरुणाचल और नागालैंड में बहुत सारे बांध बनने से बड़ी संख्या में लोग प्रव्रजन का शिकार हुए।

अस्सी के दशक में भारत ने स्वयं को मुक्त अर्थव्यवस्था के प्रति कुछ लचीला बनाया। नब्बे के दशक तक आते-आते बहुराष्ट्रीय निजी कम्पनियां भारत में प्रवेश पाने लगी। मुद्रा का अवमूल्यन किया गया, घरेलू बाजारों को लाइसेंस-परमिट आदि से मुक्त कर दिया गया। इन आर्थिक सुधारों ने देश के विनिर्माण में अपना प्रभाव डाला और विदेशी कम्पनियों के आगमन से उत्पादकता बढ़ी; लेकिन दूसरी ओर मूल्यों में कमी भी आई। इन आर्थिक सुधारों से घरेलू उद्योगों को भी लाभ पहुंचा। परंतु धीरे-धीरे विदेशी कम्पनियां भारतीय उद्योगों की संभावनाओं का दोहन करने लगीं। बड़ी-बड़ी विदेशी कम्पनियों ने सस्ते दर पर जमीन खरीदकर उद्योगों का निर्माण किया। इस तरह आर्थिक विकास की तेज रफ़्तार ने एक तरह से मध्यवर्ग को प्रभावित किया। लेकिन आर्थिक उदारीकरण का लाभ ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों को नहीं मिल सका। कृषि दर में भी निंरतर गिरावट दर्ज की गयी।

भूमंडलीकरण ने जहां एक ओर विकास की अनंत संभावनाओं को जन्म दिया वहीं दूसरी ओर अन्य वर्ग इस विकास से कोसो दूर रह गए। परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण और गरीब क्षेत्रों

के किसान, मजदूर श्रमिक वर्ग अपनी आजीविका के लिए देश के समृद्ध क्षेत्रों की ओर तेजी से प्रव्रजन करने लगे। खाड़ी देशों की ओर भी भारतीय मजदूरों ने प्रव्रजन किया जबकि बेहतर अवसर की तलाश में प्रशिक्षित और उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने विदेशों की ओर रुख करना शुरू किया। भूमंडलीकरण के दौर में सरकार के द्वारा जिन आर्थिक नीतियों को बड़े स्तर पर लागू किया गया उसमें वितरण की असमानता ने मजदूरों को व्यापक स्तर पर प्रव्रजन करने के लिए मजबूर किया। विचारणीय प्रश्न यह है कि नब्बे के दशक के बाद औद्योगीकरण की प्रक्रिया में तेजी आई है। रोजगार के अवसर भी बढ़े हैं परन्तु क्या कारण है कि महिलाओं की श्रम शक्ति में सहभागिता निरंतर कम होती गयी। कहीं न कहीं देश की कानून व्यवस्था मजदूरों को उनका अधिकार दिलाने में विफल ही रही है।

नब्बे के दशक में कश्मीरी पंडितों ने भी बड़ी संख्या में जम्मू क्षेत्र में प्रव्रजन किया। अधिकांश लोग दिल्ली और मुंबई भी गये। सन् 1990 में ही कावेरी विवाद के कारण कई हिंसात्मक घटनाएं हुईं। जिसमें बड़ी संख्या में लोग तमिल क्षेत्र छोड़कर अन्य स्थानों पर प्रव्रजन कर गये। रचनाकारों ने समाज में व्याप्त इन समस्याओं को उपन्यास में चित्रित किया है। हिंदी उपन्यास का कथ्य इतना विस्तृत है कि जीवन और समाज का हर क्षेत्र उसमें समाहित हो जाता है। हिंदी साहित्य में उपन्यास की एक लम्बी परम्परा रही है। वह अपनी भूमिका हमेशा निर्मित करता रहा है। चाहे वह प्रेमचंद का समय हो या उनके बाद का। साहित्य में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया 19वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। इस प्रक्रिया में साहित्य की विविध विधाओं में आधुनिक समाज का यथार्थ भी उभर कर सामने आया। वर्तमान समय में हिंदी उपन्यासों में विस्थापन और प्रव्रजन आदि जिन समस्याओं पर विचार किया जा रहा है उसने हिंदी जगत में मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक द्वंद्व का अनुभव पाठकों को दिया है। नब्बे का दशक भूमंडलीकरण का तीव्रतर समय

है और यही वह समय है जब पर्यावरण और पारिस्थितिकी को लेकर बहसों का एक लम्बा सिलसिला चलता है। नब्बे के दशक में लिखे जा रहे हिंदी उपन्यासों में उपर्युक्त समस्याओं को प्रमुखता से उठाया गया है। हालांकि इससे पूर्व कथा साहित्य में इन समस्याओं की सुगबुगाहट देखने को मिलती है। चूंकि कोई भी समस्या समाज में अनायास पैदा नहीं होती है बल्कि उसकी पृष्ठभूमि धीरे-धीरे तैयार होती है।

भूमंडलीकरण के दौर में लिखे गये उपन्यासों में उन समस्याओं को प्रमुखता से उठाया गया है, जो औद्योगिक विकास के अंतर्गत विकाराल रूप धारण करती गयीं। उपन्यासकारों ने समाज में अपना पैर पसार चुकी उपभोक्तावादी संस्कृति और उसके साथ पनपने वाले खतरों को अभिव्यक्ति देते हुए साहित्य को नया आयाम दिया है। नब्बे के दशक में जो उपन्यास लिखे जा रहे हैं वे वास्तव में साहित्य में अनुपस्थिति की तलाश का दौर है। अलका सरावगी, रणेंद्र, संजीव, वीरेन्द्र जैन, अखिलेश, महुआ माझी, ममता कालिया आदि कथाकारों ने प्रव्रजन और विस्थापन के मूलभूत कारणों की पड़ताल की है। यह अनुपस्थिति की तलाश मानवीय समाज, संस्कृति और संवेदना के स्तर पर छूटे उपेक्षित या तिरस्कृत को उपस्थित कर पूर्ववर्ती मानवजनित कमियों को पूरा करती है। भूमंडलीकरण की इस पूरी प्रक्रिया पर विचार करते हुए एक प्रश्न बार-बार मन में उठता है कि विकास किसके लिए किया जा रहा है? और विकास के आधार क्या हैं? विकास की इस अंधी दौड़ में कितना कुछ पीछे छूटता जा रहा है। वर्तमान समय में पूरी संस्कृति विनाश के मार्ग पर है। बड़ी-बड़ी कम्पनियों और विद्यालयों की आड़ में लोगों को जबरन उनकी भूमि से खदेड़ा जा रहा है। भूमि अधिग्रहण किया जा रहा है। विस्थापन के कारणों में औद्योगिक विकास, शहरी विकास, संचार एवं यातायात विकास केंद्र में हैं। इसलिए भूमंडलीकरण का जो अमानवीय चेहरा सामने आ रहा है वह निरंतर विकास का चोला पहनकर आमजन को भ्रमित करने में लगा

हुआ है। वैश्विक स्तर पर अपनी सकारात्मक छवि बनाने की जद्दोजहद में भूमंडलीकरण ने देश के एक बड़े तबके की अस्मिता को ही खंडित कर दिया है। विस्थापन ने सबसे ज्यादा हमारी भाषा और संस्कृति को नष्ट किया है। व्यक्ति के साथ भाषा भी विस्थापित होती है। व्यक्ति के विस्थापन व प्रव्रजन से ही भाषाई प्रव्रजन और विस्थापन गहराई के साथ जुड़ा हुआ है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि विस्थापन की यह समस्या सिर्फ भारत तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह एक वैश्विक समस्या है। म्यांमार, ईरान, उत्तर कोरिया, सूडान, अफगानिस्तान, तालिबान, दक्षिण अफ्रीकी देश आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

भूमंडलीकरण के तीन दशकों बाद स्वदेशी अपनाने और आत्मनिर्भर बनने की कवायद शुरू हो गयी है हालंकि विशेषज्ञ प्रारम्भ से इस बात को लेकर चिंतित रहे हैं कि जिस तरह आर्थिक उदारीकरण के नाम पर पूंजीवादी तबके का विस्तार हो रहा है वह हमारे समाज के लिए एक खतरा बनकर उभरेगा। यह बात सही मालूम होती है अन्यथा आज जो एक आम कथन प्रचलित है कि भारत में दो भारत हैं एक चमकता भारत और दूसरा डूबता भारत' जैसे कथन अनायास नहीं हैं। आज हमें अविष्कार से ज्यादा परिष्कार की आवश्यकता है। चूँकि आजादी के बाद से ही सरकारें विकास का आंकड़ा तो प्रस्तुत करती रही हैं लेकिन प्रश्न यह है कि इस विकास ने असमानता की खाई को किस हद तक दूर किया?

इस आर्थिक, सामाजिक और सांकृतिक क्षेत्र में उपजी विषमता ने हिंदी साहित्य को एक नया रूप प्रदान किया है। हिंदी पट्टी में नक्सलवादी आन्दोलन, प्रव्रजन, विस्थापन, अस्मितामूल्क विमर्श आदि मुख्यधारा से टकराए। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के दौर में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत खाद्य असुरक्षा की चुनौती को भी विचार का विषय बनाया गया। नब्बे के बाद लिखे गये उपन्यास महज जमीन और मजदूरी के संघर्ष को ही कथा का केंद्र नहीं बनाते, बल्कि

शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास और विकास के तमाम प्रश्नों से जूझते हुए एक नए इतिहास का निर्माण कर रहे हैं। आर्थिक उदारीकरण ने भारत के लाखों लोगों के जीवन स्तर को अवश्य सुधारा, लेकिन लाखों लोग इस प्रक्रिया से वंचित भी रह गये। इन विषमताओं का नतीजा यह हुआ कि गरीब क्षेत्रों से अपेक्षाकृत समुद्र क्षेत्रों की ओर प्रव्रजन तेजी से हुआ। कोरोना महामारी ने भूमंडलीकरण और उसकी एकध्रुवीय अवधारणा पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। प्रव्रजन और विस्थापन के पीछे जिन कारणों की चर्चा की जाती रही है, उसके स्वरुप में परिवर्तन दिखाई दे रहा है। भारत में आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप वर्गीय और क्षेत्रीय असमानता व्यापक स्तर पर पैदा हुईं है। प्रव्रजन और विस्थापन की समस्या के मूल में सबसे बड़ा कारण यह है कि हमारे नीति-निर्मातों ने जनसामान्य के अधिकारों को सुनिश्चित नहीं किया। वास्तव में विकास के सकारात्मक पहलू तभी उजागर हो सकते हैं जब हम अपनी प्राथमिकताओं को बदलें और जनसामान्य के अधिकारों को सुनिश्चित करें।

सन्दर्भ ग्रन्थ/आलेख सूची

आधार ग्रन्थ:-

- अखिलेश. *निर्वासन*. नई दिल्ली: राजकमल, 2014.
- अस्थाना, धीरेन्द्र. *देश निकाला*. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 2011.
- कालिया, ममता. दौड़. नई दिल्ली: वाणी, 2000.
- कुलश्रेष्ठ, मनीषा. *शिगाफ़*. नई दिल्ली: राजकमल, 2010.
- जैन, वीरेंद्र. डूब. नई दिल्ली: वाणी, 1991.
- जैन, वीरेंद्र. *पार*. नई दिल्ली: वाणी, 1994.
- रणेंद्र. *ग्लोबल गाँव के देवता*. नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स, 2014.
- रणेंद्र. *गायब होता देश*. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 2009.
- सरावगी, अलका,. *जानकीदास तेजपाल मैनशन*. नई दिल्ली: राजकमल, 2015.
- सरावगी, अलका. *एक ब्रेक के बाद*. नई दिल्ली : राजकमल, 2010.

संदर्भ ग्रन्थ:-

- अग्रवाल, नीरू (संपा.). *भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास*. नई दिल्ली: अनन्य, 2015.
- एंगेल्स, फ्रेडरिक. *आवास का प्रश्न*. अनु. नरेश नदीम. दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2015.
- काबरा, कमलनयन. *भूमंडलीकरण के भंवर में भारत*. नई दिल्ली : प्रकाशन संस्था, 2008.

- खेतान, प्रभा. *भूमंडलीकरण: ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र*. नई दिल्ली: सामायिक, 2014.
- गिडेंस, एंथनी. *समाजशास्त्र का आलोचनात्मक परीक्षण*. अनु. अनिल राजिमवाले. 2003.
- गुप्ता, रमणिका (संपा.). *आदिवासी विकास से विस्थापन*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण, 2008.
- गोयनका, कमल किशोर. *हिंदी का प्रवासी साहित्य*. नई दिल्ली : राज, 2011.
- चोसडुवस्की, मिशेल. अनु. जितेन्द्र जितेंद्र, गरीबी का वैश्वीकरण, मेरठ: संवाद, 2009.
- चौबे, कमल नयन. *जंगल की हकदारी: राजनीति और संघर्ष*. नई दिल्ली: वाणी, 2015.
- जार्ज, सुशील एवं सुरेश नौटियाल (संपा.). *भारत में विस्थापन और कानून*. नई दिल्ली : HRLN भारत, 2009.
- जोशी, भुवन चंद्र. *पर्वतीय लोगों का प्रव्रजन और सामाजिक स्थानान्तरण*. नई दिल्ली: आकांक्षा, 2006.
- जोशी, रामशरण, राजीव रंजन राय, प्रकाश चंद्रयान एवं प्रशांत खत्री (संपा.). *भारतीय डायस्पोरा: विविध आयाम*. नई दिल्ली: राजकमल, 2014.
- दुबे, अभय कुमार (संपा.). *भारत का भूमंडलीकरण*. नई दिल्ली: वाणी, 2017.
- दुबे, श्यामाचरण. *भारतीय ग्राम*. अनु. योगेश अटल. नई दिल्ली: वाणी, 2017.
- दुबे, श्यामाचरण. *मानव और संस्कृति*. नई दिल्ली: राजकमल, 2016.
- दुबे, श्यामाचरण. *भारतीय समाज*. अनु. वंदना मिश्र. नई दिल्ली: राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, 2005.
- दुबे, श्यामाचरण. *विकास का समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: वाणी, 1996.
- पंडित, सुरेश. *भूमंडलीकरण के युग में समाज और संस्कृति*. नई दिल्ली : शिल्पायन, 2010.

- फॉक्स, रैल्फ. *उपन्यास और लोकजीवन*. अनु. नरोत्तम नागर. नई दिल्ली: मेधा बुक्स, 2008.
- भादुड़ी, अमित. *विकास का आतंक : गरीबी, बेरोजगारी, विषमता विस्थापन*. पटना: फ़िलहाल ट्रस्ट, 2015.
- मिश्र, रामदरश. *हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा*. नई दिल्ली: राजकमल, 1968.
- यादव, वीरेंद्र. *उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता*. नई दिल्ली: राजकमल, 2017.
- राय, गोपाल. *उपन्यास की संरचना*. नई दिल्ली: राजकमल, 2012.
- लुकाच, जार्ज. इतिहास दृष्टि और ऐतिहासिक उपन्यास. अनु. कर्ण सिंह चौहान.. नई दिल्ली : नालंदा, 2009.
- शुक्ल, मनोज कुमार एवं पुष्पा तिवारी (संपा.). *भूमंडलीकरण: अस्मिता और रामविलास शर्मा*. नई दिल्ली : स्वराज, 2013.
- श्रीवास्तव, गरिमा. *हिंदी उपन्यासों में बौद्धिक विमर्श*. दिल्ली: संजय, 1999.
- श्रीनिवास, एम.एन. (संपा.). भारत के गांव. अनु. मधु बी जोशी. नई दिल्ली: राजकमल, 2011.
- श्रोत्रिय, प्रभाकर. *भूमंडलीकरण के दौर में चुने हुए निबंध*. नई दिल्ली: राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, 2015.
- सिंह, जे.पी. *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन: 21वीं सदी में भारत*. दिल्ली: पी.एच.आई. लर्निंग, 2016.
- सिंह, जे.पी. *समाजशास्त्र: अवधारणाएं एवं सिद्धांत*. दिल्ली : पी.एच.आई. लर्निंग, 2013.
- सिंह, पुष्पपाल. *21वीं सदी का हिंदी उपन्यास*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण, 2015.

- सिंह, पुष्पपाल. *भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण, 2012.
- सेन, अमर्त्य. *भारत विकास की दिशाएं*. नई दिल्ली: राजपाल, 2018.
- सेन, अमर्त्य. *भारतीय अर्थतंत्र इतिहास और संस्कृति*. नई दिल्ली: राजपाल, 2017.
- COHEN, ROBIN. *The Cambridge Survey of world migration*. London: university press Cambridge, 1995.
- DANIEL, NAUJOKS, Migration, Citizenship and Development, London: Oxford University press 2013.
- H. C. UPRETI. *Social Organization of a Migrant group*. Bombay: Himalaya publishing house, 1981.
- M.S.A. RAO. *Studies in Migration: Internal and International Migration in India*. New Delhi: Manohar publications, 1986.
- ROBERT E.B LUCAS, International Handbook on Migration and Economic Development, London: Edward publishing, 2014.

आलेख सूची

- अच्युतानंद मिश्र, मार्क्सवाद:पूँजी वर्चस्व खुली बहस, *पहल*, अंक:107, अप्रैल, 2017, पृष्ठ, 18-36.
- अभय कुमार दुबे, विस्थापन का बोझ ढोती स्त्रियाँ, *प्रतिमान समय समाज और संस्कृति*, अंक:1, जनवरी-जून, 2015. पृष्ठ, 223-252.
- अरविंद मोहन, शहर का मजदूर, *हंस*, अंक:1, अगस्त, 2006, पृष्ठ, 125-126.
- आनंद प्रकाश, इतिहास और उपन्यास, *हंस*, अंक:6, जनवरी 1999, पृष्ठ, 8-13.
- धीरेन्द्र झा, खेत मजदूर:हाशिए का बढ़ता हस्तक्षेप, *हंस*, अंक:1, अगस्त, 2006, पृष्ठ, 122-124.
- मधुरेश, पलायन के विरुद्ध, *हंस,* अंक:11, जून, 2000, पृ. 89-90.
- महेंद्र मिश्र, बांध: विस्थापन और पुनर्वास, *हंस*, अंक:5, दिसंबर, 1999,पृष्ठ, 30-40.
- मैनेजर पाण्डेय, उपन्यास और यथार्थ: एक टिप्पणी, *हंस*, अंक:6, जनवरी, 1999, पृष्ठ, 14-36
- विद्याभूषण, झारखंड और हिंदी उपन्यास, *हंस*, अंक:1, अगस्त, 1999, पृष्ठ, 58-64.
- विनोद शाही, मुक्त बाज़ार और प्रतिबंधित साहित्यिकता, *पहल*, अंक:107, अप्रैल, 2017, पृष्ठ, 37-42.
- शिवनारायण सिंह अनिवेद, दास्ताने गुलाम:उपनिवेशवाद से भूमंडलीकरण, हंस, अंक:10, मई, 2000, पृष्ठ, 87-88.

- समरेन्द्र सिंह, विकास की आड़ में विकास का तांडव, हंस, अंक:5, दिसंबर, 1999, पृष्ठ, 89-91.

वेब सामग्री:-

- https://samkaleenjanmat.in/development-displacement-and-literarture
- सम-सामयिक घटना चक्र,www.ssgc.p.com/2016
- https://www. Oxfordlearnersdictionaries.com
- http://kavitakosh.org
- HLRNwww.hlrn.org.in, प्रेस रिलीज, 9 अप्रैल2019.
- bbc.com, 15/04/2014.
- www.bbc.com/HINDI/international/28/06/2014/140620-ww2_vs
- https://navbharattimes.indiatimes.com, 18/09/2019
- www.janstta.com/world/america/25/07/2020
- https.//p.dw.com/p/3u7RK, 20/05/2021
- https://p.dw. com/P/3U7RK, 28/05/2021
- https.//amp.dw.com, 28/05/2021
- https://p.w.com/p/3Y9YC, 28/07/2021

वर्ष – 11, अंक–21
अंक– जनवरी–मार्च 2021
UGC-CARE LISTED S.N. - 61
ISSN NO. 2320-5733

समसामयिक सृजन

समकालीन साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति का संगम

समसामयिक सृजन

साहित्य, शिक्षा और संस्कृति का संगम

संरक्षक

डॉ. प्रभात कुमार

प्रधान संपादक एवं परामर्श

डॉ. रमा

संपादक

डॉ. महेन्द्र प्रजापति

संपादन सहयोग

रीमा प्रजापति

आवरण चित्र

अंकीता चौहान

ले-आउट

हर्ष कंप्यूटर्स

संपादकीय कार्यालय

मकान नं. 189, ब्लॉक-एच
विकासपुरी, नई दिल्ली-110018

पत्राचार

एफ-114, तृतीय तल, SLF, वेद विहार
नियर : शंकर विहार ऑटो स्टैंड, लोनी
गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-201102

सदस्यता

आजीवन : 5000/- रुपए
संपर्क : 9871907081
वेबसाइट : www.samsamyiksrijan.com
Email : samsamyik.srijan@gmail.com

प्रकाशन एवं मुद्रण

हरिन्द्र तिवारी

हंस प्रकाशन, दिल्ली
मो. : 7217610640, 9868561340
ईमेल : hansprakashan88@gmail.com
वेबसाइट : www.hansprakashan.com

पृ.सं.

- **'अग्नि-ऋचा' कलाम की जीवन यात्रा... :** *प्रो. रमा* 3
- **'कभी न छोड़े खेत'** / *प्रो. इंदु वीरेंद्रा* 6
- **हिंदी में अनुसंधान : स्थिति...** / *प्रो. सत्यकेतु सांकृत* 9
- **भक्तिकालीन कविता के...** / *प्रो. कैलाश नारायण तिवारी* 12
- **रंगमंच की अंतरयात्रा** / *प्रो. चंदन कुमार* 15
- **नवगीत काव्य-धारा का उद्‌भव...** / *डॉ. प्रकाश चंद्र गिरि* 17
- **कविता : मिथक और पारिस्थितिकी** / *प्रो. गजेंद्र पाठक* 20
- **साठोत्तरी हिंदी कविता : परिवेश...** / *प्रो. रसाल सिंह* 24
- **संत रविदास : व्यक्तित्व एवं विचार** / *डॉ. राजेश पासवान* 27
- **'आत्मजयी' और 'वाजश्रवा के ...** / *अभिनव प्रकाश* 30
- **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की ...** / *डॉ. अमित सिन्हा* 33
- **भाषायी अवरोधों को तोड़ता ...** / *डॉ. कविता भाटिया* 36
- **निर्मल वर्मा की रचनाओं में सामाजिक ...** / *डॉ. अमृता* 39
- **स्वावलंबन और गांधीजी** / *डॉ. सुभाष चंद्र डवास 'चौधरी'* 42
- **नारी समस्या और कृष्णा सोबती ...** / *अनिता देवी* 44
- **आदिवासी हिंदी उपन्यासों का उद्‌भव ...** / *अंजली कुमारी* 47
- **राकेश रेणु की कविताई : स्त्री मन ...** / *अंकिता चौहान* 50
- **जयशंकर प्रसाद की प्रकृति विषयक ...** / *डॉ. अर्चना त्रिपाठी* 53
- **अल्पसंख्यक विमर्श का स्वरूप और ...** / *डॉ. आसिफ उमर* 55
- **समकालीन हिंदी स्त्री कविता में पितृसत्ता ...** / *भव्या कुमारी* 58
- **कोरोना के भयावह दौर में पलायन ...** / *भावना* 61
- **समकालीन हिंदी कविता में अभिव्यक्त ...** / *चंद्रकांत सिंह* 64
- **द्रविड़ भक्ति-काव्य : उद्‌भव, स्वरूप ...** / *डी.ए.पी. शर्मा* 67
- **विभाजन और विस्थापन की ...** / *डॉ. दीपिका विजयवर्गीय* 71
- **बाणभट्ट की आत्मकथा में ...** / *डॉ. पल्लवी* 73
- **अशोक एक बौद्ध के रूप में** / *दुर्गेश पाण्डेय* 75
- **'पीली आँधी' सामाजिक विसंगतियों ...** / *हुलासी राम मीना* 78
- **'गालिब ग़ैर नहीं हैं, अपनों से अपने हैं'** / *मोहम्मद जावेद* 81
- **नारी मनोविज्ञान और जैनेंद्र कुमार ...** / *जयश्री काकति* 85
- **गांधी और राष्ट्रभाषा हिंदी** / *डॉ. कमलेश कुमारी* 88
- **आधुनिक परिप्रेक्ष्य में नारी और संतराम बी.ए.** / *कविता देवी* 91
- **स्त्री विमर्श की अवधारणा और ...** / *डॉ. महजबी* 94
- **केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में ...** / *डॉ. मणिबेन पटेल* 97
- **श्री हरिपद्मनाभ शास्त्री ...** / *प्रो. मन्जुनाथ एन. अंबिग* 99
- **काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में ...** / *डॉ. मंजुल शर्मा* 102
- **कोरोना महामारी के ...** / *ज्योति भोला-नम्रता सोनी* 105
- **कश्मीरी स्त्री : अनसुनी पीड़ा ...** / *नेहा चतुर्वेदी* 108

स्वामी, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक तथा स्वत्वाधिकारी : *डॉ. महेन्द्र प्रजापति द्वारा एच.-ब्लॉक, मकान नं. 189, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018 से प्रकाशित।*

कोरोना के भयावह दौर में पलायन की विभीषिका

भावना

आज पूरा विश्व वैश्विक महामारी से जूझ रहा है। लोग घरों में कैद होने के लिए मजबूर हैं, सामाजिक संरचनाएं टूटती सी नजर आ रही हैं, नैतिक मूल्य धराशायी हो रहे हैं; फिर भी कुछ लोग मानवीय संवेदनाओ को बचाए रखने के लिए प्रयासरत हैं। देश में सामाजिक ताना-बाना बदल रहा है और मुनष्य खुद को उसमें फिट करने की जद्दोजहद में लगा हुआ है। मनुष्य की इसी जिजीविषा ने जीवन के दुर्गम पथों पर उसे पंगु होने से बचाया है। महामारियों के प्रकोप ने समय-समय पर भारत को ही नहीं संपूर्ण विश्व को भी अपने काल का ग्रास बनाया है। ये सभी घटनाएँ हमें फिर से अतीत की ओर देखने के लिए विवश कर रही हैं। हालाँकि वर्तमान समय को समझने और भविष्य की संभावनाओं को तलाशने के लिए मनुष्य प्रारंभ से ही अतीत का सहारा लेता रहा है लेकिन प्रश्न यह है कि हमने अपनी ऐतिहासिक घटनाओं से क्या सीख ली? हम वैश्वीकरण के दौर में जी रहे हैं जहाँ संपूर्ण विश्व परस्पर सहयोग और समन्वय की भावना के साथ आर्थिक गतिविधियों को प्रोत्साहन दे रहा है, वस्तुओं और सेवाओं पर लगाए गए प्रतिबंध हटा लिए गए हैं। संचार व्यवस्था ने पूरे विश्व को एकसूत्र में जोड़ने का कार्य किया है। इन सब गतिविधियों में कहीं न कहीं असुरक्षा का भय और स्वयं को शक्तिशाली देश के रूप में स्थापित करने की कवायद भी जारी है। ये देश जहाँ एक तरफ परमाणु हथियारों को आधुनिक बनाने में लगे हैं वहीं दूसरी तरफ आर्थिक सशक्तिकरण को भी केंद्रीकृत करना चाहते हैं। बीते वर्षों में चीन विश्व शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया है जबकि अमेरिका और अब चीन विकास और बंधुत्व की आड़ में अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं। दोनों देशों के मध्य चल रहा व्यापारिक युद्ध इस बात का प्रमाण है लेकिन कोरोना महामारी ने इन महाशक्तियों के साथ-साथ भारत जैसे विकासशील देशों की पूरी व्यवस्था को जबर्दस्त झटका दिया है। वर्तमान समय में स्वास्थ्य सेवाओं की अपर्याप्तता, आपदा से निपटने के लिए सरकार की आर्थिक अक्षमता और उसकी मजबूत नीतियों की विफलता ने मजदूरों को पलायन के लिए विवश कर दिया है, जिसे केंद्र और राज्य सरकारें रोक पाने में असमर्थ हैं। देश के विकास में सड़कों से लेकर भवन निर्माण तक मजदूरों का योगदान रहा है। आज भारत का वही श्रमिक वर्ग दोहरे संकट का सामना कर रहा है जहाँ एक ओर महामारी का प्रकोप है वहीं दूसरी ओर रोजी रोटी का संकट। वैश्विक महामारी ने एक बार फिर असंतुलन की स्थिति पैदा कर दी है। निसंदेह देश के बंटवारे के बाद यह अब तक का सबसे बड़ा पलायन है। महावीरप्रसाद द्विवेदी अपने ग्रंथ 'संपत्तिशास्त्र' जो कि 1909 में लिखा गया था, की भूमिका में प्रश्न करते हैं कि "हर गाँव और हर शहर में जो अस्थि चर्मावशिष्ठ मनुष्यों के समूह के समूह आते जाते देख पड़ते हैं उनकी अवस्था उन्नत करने का कोई साधन नहीं? कितने आदमी ऐसे हैं जिनके मन में इस तरह के प्रश्न उत्पन्न होते हैं? उत्तर मिलेगा बहुत थोड़े आदमी।" द्विवेदी जी यह प्रश्न तब कर रहे थे जब देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था लेकिन विडंबना देखिए कि भारत आज स्वतंत्र तो हैं परंतु इन सवालों से स्वयं को मुक्त नहीं कर सका है। मसलन, भारत में जो समस्याएँ ब्रिटिश साम्रज्यवादी दौर से ही व्याप्त हैं वे स्वाधीनता के इतने वर्षों बाद भी हल क्यों नहीं हो सकीं?

इस दोहरे संकट को समझने के लिए इतिहास की ओर दृष्टि डालना समीचीन प्रतीत होता है। मनुष्य प्राचीन समय से ही पलायन करता रहा है इसलिए पलायन कोई नवीन क्रिया नहीं है। जैसे ही मनुष्य ने जीविकोपार्जन और सांस्कृतिक विकास की ओर कदम बढ़ाना शुरू किया वह सभ्य बनता गया और उसने अपने लिए भौतिक और आर्थिक संसाधनों को जुटाना प्रारंभ कर दिया। इससे आवागमन की प्रक्रिया में तेजी आई और उसकी गतिशीलता ने उसे विकास की ओर अग्रसर किया। परंतु पिछले कई दशकों से औद्योगिक विकास ने सभी उपादानों को एक ही दिशा की ओर केंद्रीकृत कर दिया है जिसमें आर्थिक लाभ सर्वोपरि हो गया है। प्रारंभ से ही औद्योगीकरण का सबसे ज्यादा लाभ पूँजीपति वर्ग को ही मिलता रहा है। भारत में एक तरह से 1853 में रेल निर्माण के साथ उद्योगों का विकास हुआ और अंग्रेजों द्वारा यह कार्य सिर्फ इसलिए किया गया था ताकि कारखानों को लगाने में आसानी हो और कच्चे माल को सहजता के साथ एक स्थान से दूसरे

स्थान पर पहुँचाया जा सके। इसी के साथ औपनिवेशिक शहरों में आयात-निर्यात की प्रक्रिया को सुलभ बनाने के लिए आधुनिक बंदरगाहों का निर्माण भी किया गया। इस पूरी मंशा को विस्तार से कार्ल मार्क्स ने अपने लेख 'भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम' में दिखाते हुए कहा है कि रेल व्यवस्था भारत में आधुनिक उद्योगों की जननी बनेगी। भारत में रेलवे निर्माण के साथ-साथ कोयला खदानों और कपड़ा मिलो का भी विकास हुआ। 1890 तक लाखों की संख्या में मजदूर वर्ग इन कारखानों में कार्यरत था। इन आधुनिक उद्योगों के पूर्व से ही ब्रिटिश सरकार लगातार नील की खेती, चाय और कॉफी के बगानों से लाभ कमा रही थी। इस पूरी प्रक्रिया में सबसे ज्यादा दयनीय स्थिति मजदूरों की थी। जो किसान अपनी थोड़ी सी भूमि से संतुष्ट थे वे भी नील की खेती के बाद हुई बंजर जमीन के कारण मजदूरी करने के लिए विवश हो गए। बंधुआ मजदूरों की संख्या बढ़ती जा रही थी; भारतीय मजदूरों को गिरमिटिया के रूप में फिजी, मॉरीशस, ट्रिनिडाड आदि देशों में भेजा जा रहा था। जिस समय भारतीय मजदूरों की खरीद फरोख्त का व्यापार ब्रिटिश सरकार द्वारा चलाया जा रहा था उसी समय कुछ रचनाकारों ने मजदूरों की दयनीय स्थिति को अपनी रचनाओं के माध्यम से दिखाया। जैसे, राजा लक्ष्मण सिहं का नाटक श्कुली प्रथा' जिसे अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रतिबंधित कर दिया था। गणेश शंकर विद्यार्थी, माधवराव सप्रे, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि लेखक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से मजदूरों के अधिकारों की बात कर रहे थे। रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में लिखते हैं कि "हिंदी लेखक स्वाधीनता-आंदोलन की सफलता के लिए यह समझने लगे थे कि किसानों और मजदूरों का संगठन और उनका संघर्ष आवश्यक है। माधवराव सप्रे और महावीर प्रसाद द्विवेदी दोनों ही मजदूरों के संगठन बनाने पर जोर दे रहे थे।" हमारे देश में मजदूरों की स्थिति में सुधार का एक लंबा इतिहास रहा है, विडंबना यह है कि स्थिति आज भी संतोषजनक नहीं है। पहले ब्रिटिश सरकार के क्रूर साम्राज्यवादी रवैये ने मजदूरों का शोषण किया और अब वर्तमान समय में विकास के नाम पर सरकारों और पूँजीपति वर्गो द्वारा किया जा रहा है।

अस्सी के दशक में भारत ने स्वयं को मुक्त अर्थव्यवस्था के प्रति कुछ लचीला बनाया। नब्बे के दशक तक आते-आते बहुराष्ट्रीय निजी कंपनियाँ भारत में प्रवेश पाने लगी। मुद्रा का अवमूल्यन किया गया, घरेलू बाजारों को लाइसेंस-परमिट आदि से मुक्त कर दिया गया। इन आर्थिक सुधारों ने देश के विनिर्माण में अपना प्रभाव डाला और विदेशी कंपनियों के आगमन से उत्पादकता बढ़ीय लेकिन दूसरी ओर मूल्यों में कमी भी आई। इन आर्थिक सुधारों से घरेलू उद्योगों को भी लाभ पहुँचा परंतु धीरे-धीरे विदेशी कंपनियाँ भारतीय उद्योगों की संभावनाओं का दोहन करने लगीं। बड़ी-बड़ी विदेशी कंपनियों ने सस्ते दर पर जमीन खरीद कर उद्योगों का निर्माण किया। इस तरह आर्थिक विकास की तेज रफ्तार ने एक तरह से मध्यवर्ग को प्रभावित किया लेकिन आर्थिक उदारीकरण का लाभ ग्रमीण और आदिवासी क्षेत्रों को नहीं मिल सका। कृषि दर में भी निरंतर गिरावट दर्ज की गई। भूमंडलीकरण ने जहाँ एक ओर विकास की अनंत संभावनाओं को जन्म दिया वहीं दूसरी ओर अन्य वर्ग इस विकास से कोसों दूर रह गया। नतीजा यह हुआ कि ग्रामीण और गरीब इलाकों के किसान, मजदूर श्रमिक वर्ग अपनी आजीविका के लिए देश के समृद्ध क्षेत्रों की ओर तेजी से पलायन करने लगे। खाड़ी देशों की ओर भी भारतीय मजदूरों ने पलायन किया जबकि बेहतर अवसर की तलाश में प्रशिक्षित और उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने विदेशों की ओर रुख करना शुरू किया।

भूमंडलीकरण के दौर में सरकार के द्वारा जिन आर्थिक नीतियों को बड़े स्तर पर लागू किया गया उसमें वितरण की असमानता ने मजदूरों को व्यापक स्तर पर पलायन करने के लिए मजबूर किया। मैनेजर पाण्डेय अपनी पुस्तक 'भारतीयु समाज में प्रतिरोध की परंपरा' में ग्राम्शी के विचार को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि "मुक्त व्यापार भी एक प्रकार का नियंत्रण है जो कानून और ताकत से लागू किया जाता है। वह जानबूझकर बनाई गई ऐसी नीति है जो अपने लक्ष्यों के बारे में सचेत है यह आर्थिक स्थिति का स्वाभाविक और स्वतंत्र विकास नहीं।" वर्तमान समय में कुछ राज्यों द्वारा श्रमिक कानूनों में जो जन-विरोधी बदलाव किए जा रहे हैं उसने भी कई सवाल खड़े कर दिए हैं। जबकि श्रमिक कानून के तहत सर्वप्रथम राज्यों के पास श्रमिक ठेकेदारों का पंजीयन, ठेकेदारों से संबंधित मजदूरों की जानकारी होनी चाहिए, जिससे आपदा के समय मजदूरों के लिए आर्थिक राहत की व्यवस्था की जा सके, परंतु कोरोना काल में इसका अभाव देखने को मिला। श्रमिक कानून के अंतर्गत मजदूरों के काम लिए आठ घंटे का समय निर्धारित किया गया है लेकिन इसका पालन सिर्फ सरकारी कार्यालयों में ही किया जाता है जबकि प्राइवेट कंपनियाँ और फैक्ट्रियाँ मजदूरों से बारह घंटे काम लेती हैं। आज भी बंधुआ मजदूरी के तहत मजदूरों का शोषण जारी है विशेषज्ञ बंधुआ मजदूरी को एक नए पारूप 'आधुनिक दासता' के रूप में देख रहे हैं। वैश्विक दासता सूचकांक 2018 के अनुसार, "भारत में 80 लाख लोग आधुनिक दासता में जकड़े हुए हैं" यह बंधुआ-मजदूरी उन्मूलन अधिनियम 1976 और अनुच्छेद 23 का पूर्णतः उल्लघंन है साथ ही उद्योगों में काम करने वाली महिलाओं के साथ भी लैंगिक और आर्थिक शोषण देखने को मिलता है। भेदभाव के कारण कारखानों और भवन निर्माण के मालिकों द्वारा महिलाओं को पुरुषों के

समान वेतन नहीं दिया जाता जबकि सुप्रीम कोर्ट के निर्देशानुसार मजदूरों को समान वेतन दिए जाने का प्रावधान है। 'रीअसेसिंग पैटर्न्स ऑफ फीमेल लेबर फोर्स पार्टिसिपेशन इन इंडिया', मार्च-अप्रैल 2017 में प्रकाशित रिपोर्ट के आंकड़े यह बताते हैं कि "भारत में श्रम शक्ति में महिलाओं की सहभागिता दर 27 प्रतिशत है" जबकि 1990 दशक के मध्य में महिला श्रम की सहभागिता 40 प्रतिशत थी। विचारणीय प्रश्न यह है कि नब्बे के दशक के बाद औद्योगीकरण की प्रक्रिया में तेजी आई है रोजगार के अवसर भी बढ़े हैं परंतु क्या कारण है कि महिलाओं की श्रम शक्ति में सहभागिता निरंतर कम होती गई। कहीं न कहीं देश की कानून व्यवस्था मजदूरों को उनका अधिकार दिलाने में विफल ही रही है। भारत में बाल श्रम भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसे रोकने के लिए 1948 में कारखाना अधिनियम (1987 में संशोधित) बना और 1986 में बालश्रम निषेध और नियमन अधिनियम पारित किया गया लेकिन आज भी सड़कों और होटलों पर असंख्य बच्चे सफाई का काम करते मिल जाएँगे। आंकड़े बताते हैं कि वर्ष 1978 के बाद सरकार के द्वारा ऐसा कोई सर्वेक्षण नहीं किया गया जो बाल मजदूरी के उन्मूलन में सहायक होता। इसलिए भारत में कानून बनाने से ज्यादा जो कानून पहले से बने हैं उन्हें सख्ती से लागू करवाना आवश्यक है। आज दैनिक रोजगार से अपना और अपने परिवार का जीवन चलाने वाला श्रमिक परेशान है, लाचार है और बेबस सा दिखाई दे रहा है। संवेदनाएँ पक्षपात नहीं करतीं यदि होंगी तो दिहाड़ी मजदूरों-किसानों-गरीबों के साथ अवश्य खड़ी होंगी। इस तालाबंदी में घर जाने के लिए हजारों किलोमीटर पैदल यात्रा करने वाले, रेलवे पटरी पर थक कर सो जाने से अपनी जान गंवाने वाले, रास्ते में चलती गर्भवती स्त्री द्वारा बच्चा जनने और उसके तुरंत बाद फिर उठकर सैकड़ों किलोमीटर की यात्रा करने, भूख से तड़पते लोग आदि ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जो सुरक्षा और जिम्मेदारी का दंभ भरने वाली लोकतान्त्रिक सरकारों की विफलता का प्रमाण हैं।

देश में मजदूरों की समस्याओं पर विस्तार से विचार करने के बाद निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय की समस्याओं को यदि अतीत की गर्त में जाकर देखें तो ज्ञात होता है कि कुछ यथास्थितियाँ समय के साथ परिवर्तित तो होती हैं परंतु यह परिवर्तन रूपाकार होता है। इतिहास की जिन घटनाओं से हम सचेत नहीं हुए आज पुनः परिस्थितियाँ हमें चेता रही हैं। भूमंडलीकरण के तीन दशकों बाद स्वदेशी अपनाने और आत्मनिर्भर बनने की कवायद शुरू हो गई है हालांकि विशेषज्ञ प्रारंभ से इस बात को लेकर चिंतित रहे हैं कि जिस तरह आर्थिक उदारीकरण के नाम पर पूँजीवादी तबके का विस्तार हो रहा है वह हमारे समाज के लिए एक खतरा बनकर उभरेगा। यह बात सही मालूम होती है अन्यथा आज जो एक आम कथन प्रचलित है कि भारत में दो भारत हैं एक चमकता भारत और दूसरा डूबता भारत' जैसे कथन अनायास नहीं हैं। आज हमें अविष्कार से ज्यादा परिष्कार की आवश्यकता है। चूँकि आजादी के बाद से ही सरकारें विकास का आंकड़ा तो प्रस्तुत करती रही हैं लेकिन प्रश्न यह है कि इस विकास ने असमानता की खाई को किस हद तक दूर किया?

संदर्भ ग्रंथ :

- रजनी पाम दत्त, अनु. रामविलास शर्मा : आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली-1940
- रामचंद्र गुहा, अनु. सुशांत झा : भारत नेहरु के बाद, पेंगुइन बुक्स : हरियाणा : 2012
- मैनेजेर पाण्डेय : भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा, वाणी प्रकाशन : नई दिल्ली : 2013
- सब्यसाची भट्टाचायर्स आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास, राजकमल प्रकाशन : नई दिल्ली : 1990
- अमित भादुड़ी : विकास का आतंक : गरीबी, बेरोजगारी, विषमता विस्थापन, फिलहाल प्रकाशन : पटना : 2015
- अरविन्द मोहन : बिहारी मजदूरों की पीड़ा, राधाकृष्ण प्रकाशन : नई दिल्ली : 2017
- अयोध्या सिंह : समाजवाद भारतीय जनता का संघर्ष, अनामिका प्रकाशन : नई दिल्ली : 2007
- रामविलास शर्मा : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन : नई दिल्ली : 2012
- लेख-निहारिका चोपड़ा, दिप्रिंट : 1 मई, 2020

पी-एच.डी. (हिंदी)
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद
मोबाइल न. 9911554579
bhawnakaushik9911@gmail.com

Volume-7, 2021

ISSN 2394-6903

RAINBOW

Multidisciplinary Peer Reviewed Annual Journal

Shri Nagpur Gujarati Mandal's

VMV Commerce, JMT Arts and JJP Science College

WARDHAMAN NAGAR, NAGPUR-440008.

Ph.: 2764391, 2733941, 6508158

E-mail: vmvnagpur@gmail.com, rainbowvmv@gmail.com

Website : www.vmvnagpur.org

Publisher

VMV Commerce, JMT Arts & JJP Science College

Wardhaman Nagar, Nagpur

Printer

R. R. Offset Works

H.B.Town, Old Pardi Naka,

Bhandara Road, Nagpur.

Rainbow Vol.-7, March 2021. All rights reserved. No part of this publication may be reproduced in any form or by any means or used by any information storage and retrieval system without written permission from the copyright owner.

Opinions expressed in the articles, research papers are those of contributors and do not necessarily reflect the views of the publisher. The publisher is not responsible (as a matter of product liability, negligence or otherwise) for any consequences resulting from any information contained therein.

42	भूमंडलीकृत समाज में विकास बनाम विस्थापन	भावना पी.एच.डी.	254
43	हिन्दी और तेलुगु में वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का निर्माण	सुर्य कुमारी.पी.	260
44	बलुतेदारी प्रथा और महार मांग संबंध	सोनकांबळे पिराजी मनोहर	265
45	अस्तित्व की लडाई और डॉ.धर्मवीर	घाटे कैलास बलिराम	272
46	समाजातील समाजाचा परिवर्तनिय महामेरु- राष्ट्रसंत श्री तुकडोजी महाराज	डॉ. दिलीप चव्हान	277
47	माझी जन्मठेप : वाङ्मयीन महात्मता	डॉ. तीर्थराज कापगते	281
48	आदीवासी मराठी कविता	डॉ. राखी जाधव	288
49	The Great Indian Robbery And Two Contemporary Historians	Dr. Supantha Bhattacharyya Dr. Purabi Bhattacharyya	293

Gujarati

50	ચાલો, શિક્ષણ જગતની યાત્રાએ...	[illegible]	299
51	મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમાં ધર્મ કેન્દ્ર સ્થાને ?	[illegible]	303
52	ગાંધી - ગીતા	[illegible]	306
53	શિક્ષણમાં માતૃભાષાનું મહત્વ	[illegible]	308
54	"ગુજરાતી અને સાહસ"	ડૉ. ભાવેશ ચંદ્રકાન્ત ભૂપતાણી	311

Science

55	Synthesis of Benzimidazole Schiff's Bases & Its Derivative Catalysed by Copper Nanoparticles and Employment of India	Jay A. Tanna R. B. Patil	313
56	Using Raspberry PI as OPC UA Device with Orange Wit Analytics Platform	Mrs Mugdha M. Ghotkar	319

भूमंडलीकृत समाज में विकास बनाम विस्थापन

भावना (पीएच. डी.)
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

वर्तमान मानव की उपजाति को होमो सैपियन्स के नाम से जाना जाता है। जिसका उद्भव दस हजार वर्ष पूर्व कैस्पियन सागर के निकट हुआ। धीरे-धीरे मनुष्य ने जीविकोपार्जन और सांस्कृतिक विकास की ओर अपने कदम बढ़ाने शुरू किए। मनुष्य सभ्य बना और उसने अपने लिए भौतिक और आर्थिक संसाधनों को जुटाना प्रारम्भ किया। इससे आवागमन की प्रक्रिया में गति आई। मनुष्य को अपनी अस्मिता और अस्तिव का भान हुआ। उसकी गतिशीलता ने उसे विकास की ओर अग्रसर किया। विकास के क्रम में मनुष्य ने जिन उपादानों को विकसित किया था। आधुनिक औद्योगिक विकास ने पिछली तीन शताब्दियों में सबको समेट कर एक ऐसी दिशा दी है, जिसने आर्थिक लाभ को सर्वोपरी बना दिया है। आज हमारे समाज को विकास की अवधारणा ने पूरी तरह बदलकर रख दिया है जहाँ बिजली, सड़क, कारखानों की स्थापना, शहरों में नई-नई अट्टालिकाओं का निर्माण, आसानी से सामानों की उपलब्धतता इसके परिचायक हैं वहीँ वर्तमान समय में विकास के स्वरूप ने एक नई अवधारणा को गढ़ा, जो ये कहती है कि विकास के लिए विस्थापन आवश्यक है।

दरअसल भूमंडलीकरण का अर्थ विश्व में हो रहे परिवर्तनों के अनुरूप विश्वस्तरीय आर्थिक परिवेश को प्रभावी भूमिका के लिए प्रतिस्पर्धात्मक बनाना है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में देश एक-दूसरे पर परस्पर निर्भर हो जाते हैं और लोगों के बीच की दूरियां घट जाती हैं। एक देश अपने विकास के लिए दूसरे देशों पर निर्भर होता है। इसलिए इसे भूमंडलीकरण के नाम से भी अभिहित किया जाता है| भारत में 1991 में आर्थिक पैकेज के एक भाग के रूप में यह लागू हुआ था। जो मूलतः देश में आए आर्थिक संकट को दूर करने के लिए अपनाया गया था। भूमंडलीकरण दो क्षेत्रों पर बल देता है- उदारीकरण और निजीकरण। उदारीकरण का अर्थ है औद्योगिक और सेवा क्षेत्र की विभिन्न गतिविधियों से संबंधित नियमों में ढील देना और विदेशी कम्पनियों को घरेलू क्षेत्र में व्यापारिक और उत्पादन इकाइयां लगाने हेतु प्रोत्साहित करना। भूमंडलीकरण में अन्य देशों में पूँजी, नवीनतम प्रौद्योगिकी और मशीनों का आगमन होता है| सरकारें संसाधनों का निजीकरण करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं जिसमें लाभ कमाने की दृष्टि से संसाधनों का दोहन भी होता है।

विस्थापन का अर्थ है व्यक्ति ,परिवार अथवा परिवार के समूहों का एक स्थान से किसी दूसरे स्थान

पर स्थानान्तरण। विस्थापन के अनेक कारण हैं जैसे प्राकृतिक कारणों में भूकंप, चक्रवात, बाढ़ अथवा सुनामी आदि। इसके अतिरिक्त मानव निर्मित कुछ ऐसे क्रियाकलाप और परियोजनाएं हैं जो विस्थापन की समस्या को जन्म देती हैं।1.जल विद्युत उत्पादन और सिंचाई के लिए बांधों का निर्माण। 2.हवाई अड्डों व मेट्रो का निर्माण। 3. नगर और बंदरगाहों का निर्माण। 4.नगरीय संरचना का निर्माण और सुधार। 5. खदान प्रक्रिया की शुरुआत। 6. शत्रु देश का आक्रमण। 7. धार्मिक असहिष्णुता आदि। वर्तमान समय में विस्थापन की सीमाएं कहां-से-कहां तक हैं यह कह पाना मुश्किल है लेकिन विस्थापन को बाजारवाद और भूमंडलीकरण ने गहरे प्रभावित किया है। औद्योगिक विकास की इस अंधी दौड़ के कुचक्र में सर्वाधिक पीड़ित आदिवासी वर्ग है। यह अत्यंत ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि आज आदिवासी जो कि संभवतः भारत के मूल निवासियों के वंशज हैं। अब देश की कुल आबादी के आठ प्रतिशत बचे हैं। वे एक तरफ गरीबी, निरक्षरता, बेरोजगारी, बीमारियों और भूमिहीनता से ग्रस्त हैं। वहीं दूसरी तरफ भारत की बहुसंख्यक जनसंख्या जो कि विभिन्न अप्रवासी जातियों की वंशज हैं। इस दंश को झेल रही हैं। आज़ादी के बाद देश के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि भारत का सम्पूर्ण विकास कैसे किया जाए? परन्तु आज़ादी के साथ-साथ विभाजन की क्रूर त्रासदी को भी भारत को झेलना पड़ा। जिसके अंतर्गत भारत- पकिस्तान का बंटवारा हुआ। इस घटना में लाखों लोगों को विस्थापित होना पड़ा। बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे हुए जिसमें लाखों लोगों को अपनी जान भी ग्वानी पड़ी। विभाजन की इस घटना ने मानव- मूल्यों को झकझोर कर रख दिया। लोग अपनी मातृभूमि से दूर जाकर बसने को मजबूर थे। विभाजन की इस त्रासदी को मानव इतिहास में सबसे बड़े विस्थापन के रूप में देखा जाता है। देश के विकास में उद्योगों का एक महत्वपूर्ण स्थान है जिसे नकारा नहीं जा सकता। उद्योगों के कारण रोजगार के अवसर बढ़ते हैं,व्यक्ति की आय बढ़ती है, समाज में विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। विश्व के कई देशों ने आर्थिक प्रगति ऐसे ही की है परन्तु यह भी सत्य है कि उद्योगों के विकास के साथ-साथ उससे होने वाले दुष्परिणामों की अनदेखी हम नहीं कर सकते हैं। नब्बे का दशक भूमंडलीकरण का तीव्रतर समय है और यही वह समय है जब पर्यावरण और पारिस्थितिकी को लेकर बहसों का एक लम्बा सिलसिला चलता है।

एक समय इन्हीं प्राकृतिक संसाधनों, खनिजों का अन्धाधुंध दोहन करते हुये औद्योगिकीकरण के बलबूते विकास की सीढ़ियां नापी जाती हैं और दूसरी तरफ पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों, खनिजों को बचाने के लिए भाषण दिए जाते हैं। जिस समाज में विकास के जो सपने दिखाए जा रहे हैं वास्तविकता यह है कि वही समाज भूमंडलीकरण और नव-साम्राज्यवाद के आक्रमण को सबसे अधिक झेल रहा है। क्योंकि इन्हें विरासत में विपुल प्राकृतिक संपदा प्राप्त हुयी है। इन समाजों में फैली बैचेनी, उथल-पुथल अकारण नहीं है। विगत दो-ढाई दशकों में इसी समाज के सदस्य सबसे अधिक विस्थापित प्रवासन, अमानवीयता, अर्थ-सर्वहाराकरण, भुखमरी का शिकार हुए हैं। पूर्व साम्राज्यों ने हिंसात्मक ढंग से इन समाजों पर अपना आधिपत्य

स्थापित किया था। स्वतंत्र राष्ट्र राज्यों ने इन्हें निरीह, असभ्य के रूप में देखा और आज नवसाम्राज्यवादी स्थानीय राज्य नियंत्रकों एवं पूंजीपतियों के साथ विभिन्न रूपी गठजोड़ों के माध्यम से इनका सर्वस्व हड़पने की कोशिश में है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं, "भूमंडलीकरण के कारण आज पुनः देश में वही स्थिति उत्पन्न हो रही है जो आजादी के पूर्व ब्रिटिश काल में थी। बल्कि किसी-किसी मायने में यह और भयंकर हो सकती है। अंततः यह प्रक्रिया ग्रामीण क्षेत्रों में सबसे ज्यादा कहर ढाएगी। क्योंकि शहरों की आबादी अब आयातित जीवन शैली स्वीकार कर चुकी है और इस वर्ग को गांव की पुरातन समाज व्यवस्था की विशिष्ट प्रतिभाओं, सामाजिक, सांस्कृतिक मान्यताओं तथा पारंपरिक समाज की मानवीय गुणों पर आधारित जीवन शैली से कोई मतलब नहीं है। इनके बीच से ही उत्पन्न पूंजीपति वर्ग को शोषित, पीड़ित और दलित आदिवासी समाज पिछले कुछ वर्षों से आंतरिक उपनिवेशवाद की तरह झेल रहा है।"

विकास एक सतत प्रक्रिया है परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि विकास किसका पर्याय है? हम विकास की प्रक्रिया में किसे बाधा समझ रहे हैं यह विकास कितने लोगों का है? और कितने लोगों को पीछे छोड़ रहा है? आदिवासियों का भौगोलिक परिवेश? ही उनके संस्कारों का निर्माण करता है आत्मबोध कराता है। ऐसा कभी न था कि समाज ने विकास की चाह न रखी हो, वह भी अपने को मुख्य धारा में चाहता है| आदिवासियों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव मुख्यतः भूमि से अलगाव के रूप में हुआ। संचार एवं विकास की प्रगति के लिए जनजातीय क्षेत्रों को खुला रखने और भूमि अधिग्रहण की सरकार की नीतियों के कारण आदिवासियों को भूमिहीन होकर भटकने के लिए विवश होना पड़ा है। विस्थापन एक ऐसी समस्या है जो मानसिक तनाव से लेकर आर्थिक समस्या तक घिरी हुई है। विस्थापन की समस्या की शुरुआत मूलतः 1837 से ही मानी जाती है। ब्रिटिश कम्पनी ने असम में चाय बागान की नींव डाली। इसके मुनाफे को देखते हुये उद्योग में और अधिक विस्तार किया गया। औद्योगिक श्रम की पूर्ति हेतु अंग्रेज स्थानीय क्षेत्रों से आदिवासियों को जबरन लेकर आये। जैसे-जैसे बागान बढ़ता गया, लोग विस्थापित होते गए। इसके बाद 1907 में झारखंड में टाटा कम्पनी की स्थापना से विस्थापन की शुरुआत हो गयी। 1954 में मैथन परियोजना, 1955 में पंचेत परियोजना, हीराकुंड परियोजना आदि बनाई गयीं। इस प्रकार जैसे-जैसे परियोजनाएं बनी, बड़े-बड़े उद्योग स्थापित हुये, समस्या ने और अधिक विस्तार लिया। दरअसल, कल-कारखानों या उद्योगों का जाल भी इनकी स्थिति को सुधारने के लिए नहीं किया जा रहा था बल्कि क्षेत्रों में दबी संपदा का दोहन करने के लिए बिछाया गया है। देश के उन तमाम आदिवासी क्षेत्रों में जहां किसी-न-किसी स्तर पर औद्योगिकीकरण हुआ है संबंधित क्षेत्र के मूल निवासी भारी संख्या में अपने गांव को छोड़कर वहां की नयी औद्योगिक बस्तियों में जा बसे हैं जो एक लंबे समय से विस्थापित या प्रवासित हैं। भूमंडलीकरण के समय में पूंजीपतियों ने लाभ के लिए वनों को निरंतर नष्ट किया और आदिवासी समाज असहाय होकर यह दंश सहता रहा। इस विनाश के

फलस्वरूप आदिवासी विस्थापित हुए। आजीविका की तलाश में उन्हें दूसरे प्रदेशों की ओर पलायन करना पड़ा। इसके अतिरिक्त जो आदिवासी अपनी भाषा और संस्कृति को बचाए रखने के लिए उसी स्थान पर डटे रहे वे अल्पसंख्यक हो गए। छत्तीसगढ़ और झारखण्ड में भी ऐसा ही हुआ। सरकारी विकास नीतियों के कारण अपने ही इलाके में अल्पसंख्यक होकर आदिवासी जो कल किसान थे, आज खेतिहर बंधुआ मजदूर बनकर रह गए हैं। "आधुनिक औद्योगिक युग में जहाँ-जहाँ विकासशील अथवा पिछड़ी अर्थव्यवस्थाएं हैं वहां-वहां विस्थापन-प्रवासन परिघटना का पाया जाना एक सामान्य बात है। विशेष रूप से उन अर्थव्यवस्थाओं में जहाँ उत्पादन के साधनों का समाजीकरण नहीं किया गया है तथा समूची अर्थव्यवस्था विशिष्ट वर्गीय मूल्याभिमुख है। वहां विस्थापन-प्रवासन की गति बहुत तेज व बेलगाम हो गई है।" दुनिया में विभिन्न कारणों से हर साल लाखों लोगों का आशियाना उजड़ जाता है दूसरी ओर बढ़ती आबादी और कम होते संसाधनों की वजह से कई गरीब देशों की जनता को पलायन का सहारा भी लेना पड़ता है। भारत, म्यांमार, बांग्लादेश, मलेशिया, सीरिया, लीबिया, अफ़गानिस्तान, दक्षिण अफ्रीका, ट्यूनीशिया, यूनान, सूडान आदि देशों में लोग भिन्न-भिन्न कारणों से विस्थापित हो रहे हैं। विस्थापित लोग जिन देशों की ओर रुख करते हैं वहां की व्यवस्था उन्हें पूर्ण रूप से आश्रय नहीं दे पाती, साथ ही कुछ असामाजिक तत्वों के अत्याचारों से भी उन्हें गुजरना पड़ता है। इन कारणों को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ ने 20 जून 2001 से विश्व शरणार्थी दिवस मनाने की शुरुआत की। जिससे विश्व के राष्ट्रों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो सके और लोगों तक यह सन्देश जाए कि कोई भी मनुष्य अमान्य नहीं है चाहे वह किसी भी देश का हो। विस्थापन मुख्य रूप से एक सामाजिक समस्या है।

रचनाकारों ने समाज में व्याप्त इन समस्याओं को उपन्यास में चित्रित किया है| हिंदी उपन्यास का कथ्य इतना विस्तृत है कि जीवन और समाज का हर क्षेत्र उसमें समाहित हो जाता है हिंदी साहित्य में उपन्यास की एक लम्बी परम्परा रही है। वह अपनी भूमिका हमेशा निर्मित करता रहा है। चाहे वह प्रेमचंद का समय हो या उनके बाद का। साहित्य में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया 19वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई| इस प्रक्रिया में साहित्य की विविध विधाओं में आधुनिक समाज का यथार्थ भी उभर कर सामने आया| हिंदी साहित्य में उपन्यास की अपनी एक लम्बी परम्परा रही है| वह अपनी एक नयी भूमिका हमेशा निर्मित करता रहा है| आज हिंदी उपन्यासों में विस्थापन जैसी जिन समस्याओं पर विचार किया जा रहा है उसने हिंदी में मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक द्वंद्व का एक अनुभव दिया है| एक ही समय घर से दूर होने का दर्द और घर से दूर होने की जरूरत आदि का चित्रण कर हमारी भाषा ने एक रचनात्मक पूँजी को हमारे सामने रखा है| कथाकार अखिलेश के उपन्यास 'निर्वासन' के केंद्र में यूं तो विस्थापन की समस्या है, पर ये महज भौगोलिक स्तर पर नहीं है, यह बहुस्तरीय और बहुआयामी है| 'शिगाफ' मनीषा कुलश्रेष्ठ का ऐसा उपन्यास है जिसमें कई समस्याएं मिलकर एक कर दी गयीं हैं| कश्मीर की धरती से जुड़ा यह उपन्यास एक अलग ही भूमिका तैयार करता है| यह उपन्यास

आवाम के साथ-साथ बेबसी की दरार है जिसमे कश्मीर के दर्द का हर हालें बयां है| अलका सरावगी का 'जानकीदास तेजपाल मैंशन' कई केन्द्रीय कथाओं और उपकथाओं को लेकर चलता है | इस उपन्यास में सत्तर के दशक के बाद भारतीय समाज में आए बदलाव को, बदलते सामाजिक मूल्यों को आदि कारणों के जरिये विस्थापन की समस्याओं को दर्शाया गया है| बहुत कुछ बदलने के बाद भी उपन्यास विशिष्ठ और सम्पूर्ण ही रहा है। हिंदी में भूमंडलीकरण के प्रभाव में अनेक उपन्यास लिखे जा रहे हैं तो दूसरी तरफ उसके सम्पूर्ण प्रतिरोध और विकल्प के रूप में बहुत से उपन्यास प्रतिरोध का सही नजरिया अपनाकर भूमंडलीकरण के विरूद्ध जन प्रतिरोध की सही अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर साहित्य के जनतंत्र की रचना कर रहे हैं। ऐसे विपरीत समय में साहित्यकारों ने पीड़ित समुदाय की संघर्षगाथा को लिखना प्रारंभ किया। आदिवासी रचनाकार आज वाचिक परम्परा में सुरक्षित अपने आदिवासी लोक साहित्य के संकलन और उसे लिपिबद्ध करने में जुटे हैं। आदिवासी वांग्मय की शौर्य गाथाओं, लोकगाथाओं, लोककथाओं का लिप्यन्तरण कर अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

वर्तमान समय में भूमंडलीकरण जिस आर्थिक परिदृश्य का निर्माण कर रहा है उसके दूरगामी सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई और राजनीतिक प्रभाव हो रहे हैं। फ्रेडरिख एंगेल्स ने अपने एक प्रपत्र में कहा था- " जब पुरानी संस्कृति वाला कोई देश विनिर्माण और छोटे पैमाने के उत्पादन से बड़े पैमाने के उद्योग में संक्रमण करता है और, अलावा इसके वह संक्रमण जब ऐसा होता है कि अनुकूल परिस्थितियां उसमे और गति लाती हैं तो ठीक वही समय साथ ही साथ 'आवास के अभाव' का समय भी होता है।" आदिवासी समाज के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में उनका समकालीन साहित्य एक ऐसी मशाल है जिसके आलोक में आदिवासी समाज अपनी दशा और दिशा को साहित्यिक चेतना के अनुरूप निर्धारित कर सकता है। हम देखते हैं कि भूमंडलीकरण के दौर में ही आदिवासी शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया भी तेज हुई है, उसका प्रतिरोध भी मुखर हुआ, जिसने आदिवासी साहित्य की अवधारणा के निर्माण काल को जन्म दिया। आज के समय में साहित्य की विभिन्न विधाएं अपने-अपने स्तर पर शासक वर्ग के प्रति अपना प्रतिरोध दर्ज करा रही हैं| इक्कीसवीं सदी के भारत की प्रगति के जो अभियान चलाए जा रहे हैं उनमें इन आदिवासियों का स्थान कहाँ है? आदिवासी संस्कृति में एक निरंतरता है। हजारोa वर्ष पुरानी इस संस्कृति में आज भी अतीत और वर्तमान के बीच की कड़ियाँ सशक्त हैं। हालांकि इनमें विसंगतियां और विरोधाभास भी है। इन विसंगतियों के बाद भी आदिवासी संस्कृति पुरातन संस्कृति न रहकर आज भी जीवित है। परन्तु उसकी अस्मिता पर मंडराता संकट भूमंडलीकरण के दौर में और भी गहरा हो गया है| विस्थापन के कारणों में औद्योगिक विकास, शहरी विकास, संचार एवं यातायात विकास केंद्र में हैं। इसलिए भूमंडलीकरण का जो अमानवीय चेहरा सामने आ रहा है वह निरंतर विकास का चोला पहनकर आमजन को भ्रमित करने में लगा हुआ है। वैश्विक स्तर पर अपनी

सकारात्मक छवि बनाने की जद्दोजहद में भूमंडलीकरण ने देश के एक बड़े तबके की अस्मिता को ही खंडित कर दिया है।

संदर्भ ग्रन्थ:-

1 आदिवासी विमर्श अवधारणा और आंदोलन, कुमार कमलेश, तेज प्रकाशन:नई दिल्ली:2014
2 आदिवासी विकास से विस्थापन, सं. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण:दिल्ली:2008
3 आदिवासी संस्कृति एवं राजनीति, एम. कुमार, विश्व भारती:नई दिल्ली:2009
4 उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, कृष्णदत्त पालीवाल, वाणी: नई दिल्ली:2010
5 आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, एम. एन. श्रीनिवास, राजकमल:नई दिल्ली:1967
6 भूमंडलीकरण:ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, प्रभा खेतान, सामयिकी:2014
7 भूमंडलीकरण के भंवर में भारत, कमल नयन काबरा, 2015
8 यादों का लाल गलियारा:दंतेवाड़ा, रामशरण जोशी, राजकमल:नई दिल्ली:2015

बद्रुका वाणिज्य एवं कला महाविद्यालय

NAAC - पुनःप्रत्यायित, काचीगुड़ा, हैदराबाद

एवं

हिन्दी हैं हम विश्व मैत्री मंच, हैदराबाद

के संयुक्त तत्वावधान में

दो दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी संगोष्ठी - दिनांक 14-15 दिसम्बर 2018

विषय : हिन्दी भाषा, साहित्य एवं भारतीय संस्कृतिः वैश्विक परिदृश्य

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि सुश्री / श्री / श्रीमती / डॉ. / प्रो. भावना ....
(विषय : भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी उपन्यासों में विस्थापन की समस्या)
दिनांक 14 एवं 15 दिसंबर 2018.... को हिन्दी भाषा, साहित्य एवं भारतीय संस्कृतिः वैश्विक परिदृश्य विषय पर आयोजित दो दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी संगोष्ठी में सत्राध्यक्ष / आलेख - प्रस्तोता / सत्र-संचालक / प्रतिभागी के रूप में भाग लिया।

डॉ. डी. विद्याधर
संगोष्ठी संयोजक

श्री राजेश अग्रवाल
संगोष्ठी निदेशक

डॉ. के. सोमेश्वर राव
प्राचार्य

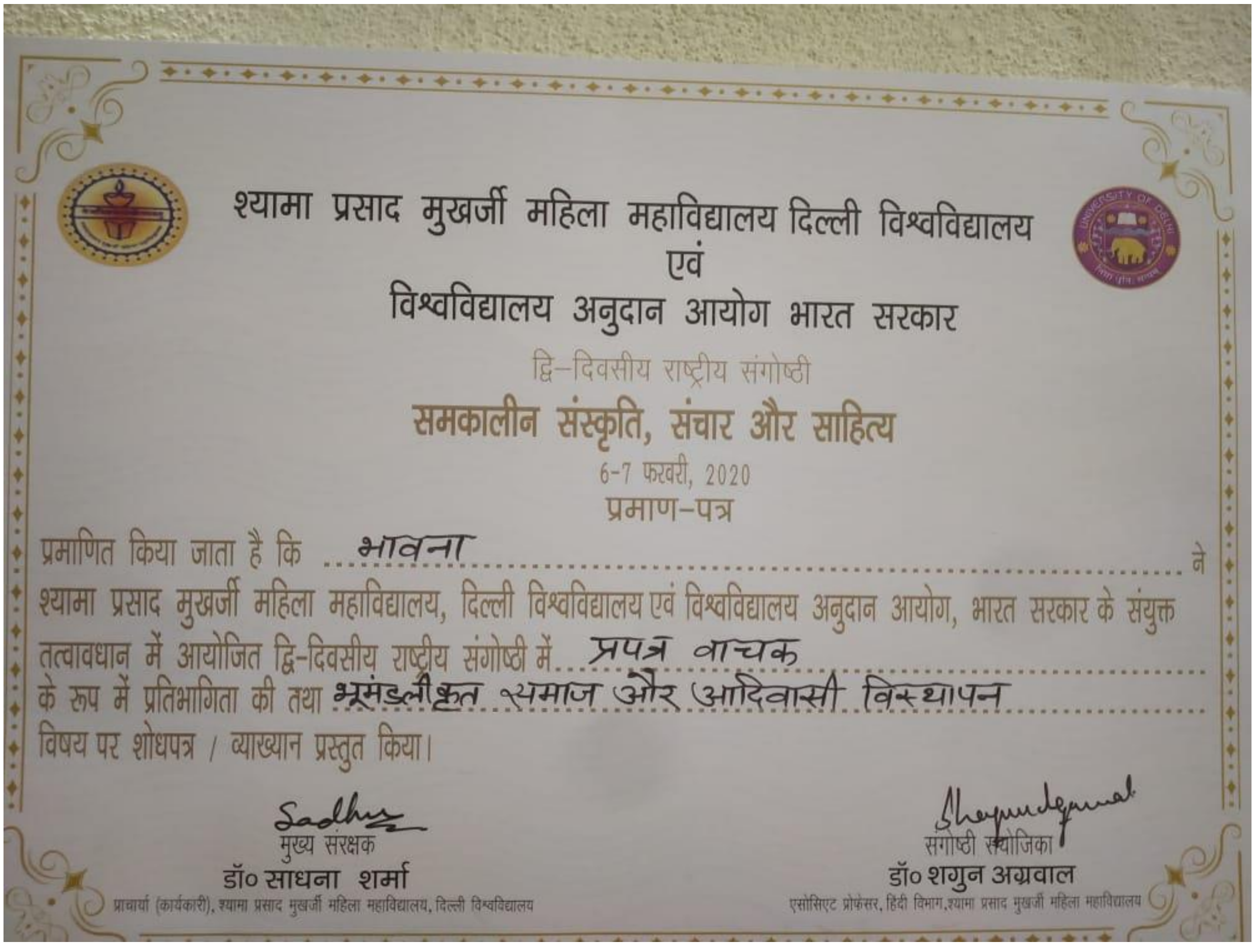

श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय दिल्ली विश्वविद्यालय

एवं

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग भारत सरकार

द्वि–दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी

समकालीन संस्कृति, संचार और साहित्य

6-7 फरवरी, 2020

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि भावना ने श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, भारत सरकार के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित द्वि-दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रपत्र वाचक के रूप में प्रतिभागिता की तथा भूमंडलीकृत समाज और आदिवासी विस्थापन विषय पर शोधपत्र / व्याख्यान प्रस्तुत किया।

Sadhna
मुख्य संरक्षक
डॉ० साधना शर्मा
प्राचार्या (कार्यकारी), श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

Shagun Agrawal
संगोष्ठी संयोजिका
डॉ० शगुन अग्रवाल
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय